ललित-विस्तर

एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ॰ रामबली



1995

कला प्रकाशन

बी॰ 33/33-ए-1, न्यू साकेत नगर कालोनी

बी॰ एच॰ यू॰, वाराणसी-5



ललित विस्तर : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. रामबली

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध–प्रबन्ध)

1995

कला प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

कला प्रकाशन

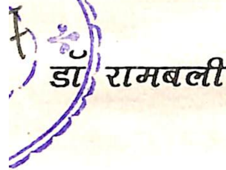
बी. 33/33 -A-1

न्यू साकेत नगर कालोनी, बी.एच.यू.

वाराणसी–221005

(प्रस्तुत शोध--ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् *(I.C.H.R.)* नयी दिल्ली के आर्थिक सहयोग से साकार हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों अथवा निस्तृत निष्कर्षो का उत्तरदायित्व पूर्णरुपेण लेखक पर रहा है। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् इसके लिए उत्तरदायित्व नहीं रखता।)

प्रथम संस्करण : 1995



मूल्य : Rs 200

फोटो टाइपसेटिंग

अग्रवाल कम्प्यूटर

गोलघर, वाराणसी

मुद्रक

इम्प्रेशन ग्राफिक प्राइवेट लिमिटेड

बी.58, चितईपुर, हैडिलरोड, इन्द्रानगर, वाराणसी

फोन नं० 314720, 314721

समर्पण

पूजनीया ममतामयी

माँ

श्रीमती भगमानी देवी

एवं

पूज्य पिता श्री जयश्री प्रसाद

के

चरणकमलों में ग्रन्थ सुमन

सादर समर्पित

प्राक्कथन

ललित-विस्तर बौद्ध वाङ्मय का एक धार्मिक महाकाव्य है। यह ग्रन्थ बौद्ध धर्म की महायान शाखा से सम्बन्धित नौ वैपुल्य आर्य सूत्रों में बहुत पवित्र एवं श्रेष्ठ माना जाता है। इस ग्रन्थ में कुल २७ (सत्ताइस) परिवर्त हैं जिनमें भगवान् बुद्ध के इस संसार में अवतरण की घटना से धर्म चक्र प्रवर्तन तक की कथा का वर्णन ललित भाषा-शैली में हुआ है। ललित-विस्तर महाकाव्य किसी एक रचयिता की रचना न होकर भगवान् बुद्ध की ललित-क्रीड़ाओं के विषय में प्रचलित गाथाओं का कई लोगों द्वारा संकलित रूप है। इस ग्रन्थ का संकलन कब हुआ इस विषय में भी निश्चित तथ्य प्राप्त नहीं होते, लेकिन प्राप्त साक्ष्यों एवं तथ्यों के आधार पर इसका सम्भावित समय महायान सूत्रों के संग्रहकाल ईशा पूर्व प्रथम शताब्दी या इससे कुछ उत्तरवर्ती काल के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है।

"ललित-विस्तर : एक समीक्षात्मक अध्ययन" नामक इस ग्रन्थ को अध्ययन की सुगमता के लिए मूलतः पाँच खण्डों में विभक्त किया गया है, जो निम्न हैं :–

भूमिका

(क) इस भाग में महायान के उद्भव एवं विकास का उल्लेख है।

(ख) इसमें महायान के सूत्र साहित्यों का नामोल्लेख करते हुए वैपुल्य आर्य सूत्रों का परिचय दिया गया है।

प्रथम खण्ड

इस खण्ड में "ललित-विस्तर" के वर्ण्य-विषय एवं तथागत् के जीवन-चरित का अन्य सूत्र साहित्यों में वर्णित जीवन चरित से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

द्वितीय खण्ड

इसमें भाषा, शैली, रस, छन्द, अलंकार एवं प्रकृति-चित्रण का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय खण्ड

इसमें 'ललित-विस्तर' के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है।

चतुर्थ खण्ड

इस भाग में ग्रन्थ के अन्तर्गत वर्णित बुद्ध के जीवन-चरित का कलाओं पर प्रभाव वर्णित है।

पंचम खण्ड

इसमें ग्रन्थ के सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक तत्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है और अन्त में उपसंहार किया गया।

अब मैं उन विद्वानों एवं महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन अपना परम पुनीत कर्तव्य समझला हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ की पूर्णता में अपना अमूल्य समय एवं सुझाव प्रदान किया है। सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य गुरु डॉ. पी. दूबे, रीडर, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी का सर्वाधिक ऋणी हूँ, जिनके निर्देशन एवं प्रेरणा से इस ग्रन्थ को प्रस्तुत कर सका।

तदनन्तर डॉ. सुदर्शन लाल जैन, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, का.हि.वि.वि.; प्रो. श्री नारायण मिश्र, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, का.हि.वि.; प्रो. विरेन्द्र कुमार वर्मा, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग एवं पूर्व प्रमुख कला-संकाय, का.हि.वि.वि.; प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य, पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, का.हि.वि.वि.; डॉ. कोमल चन्द जैन, अध्यक्ष पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, का.हि.वि.वि. तथा श्री सोमेश्वर प्रसाद, पूर्व अध्यक्ष पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, का.हि.वि.वि. के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों को देते रहे। डॉ. जयशंकरलाल त्रिपाठी, डॉ. रामायण प्रसाद द्विवेदी, डॉ. कमला प्रसाद सिंह, डॉ. पर्णदत्त सिंह, डॉ. हरिशंकर शुक्ल आदि संस्कृत एवं पालि विभाग के गुरुजनों का आभारी हूँ, जिनके आशीर्वाद से मेरा यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हुआ।

इसी क्रम में मैं परमादरणीय गुरुवर्य प्रो. विश्वनाथ वनर्जी, पूर्व प्रो. एवं अध्यक्ष संस्कृत एवं पालि विभाग, विश्व भारती शान्तिनिकेतन, कलकत्ता तथा प्रो. संघ सेन सिंह, अध्यक्ष पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समयानुसार मुझे अपने बहुमूल्य सुझावों को प्रदान करते हुए ग्रन्थ को शीघ्र परिमार्जित रूप में प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। डॉ. बी.के. पाण्डेय, भा.इ.अनु. परिषद, नई दिल्ली का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ को पूर्ण करने से लेकर पुस्तक बनने तक सहयोग एवं आशीर्वाद दिया।

डॉ. नन्द जी राय, डॉ. राम कुमार राय, डॉ. मीता राम पाल, श्री चन्द्रबली पटेल, डॉ. मुकुन्द मणि मिश्रा आदि सभी मित्रों, विद्वज्जनों, ग्रन्थालयों उनके अधिकारियों को हृदय से धन्यबाद देता हूँ, जिनका सहयोग इस ग्रन्थ को पूर्ण कराने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुआ है। मैं भारतीय

इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली का भी आभारी हूँ, जिसने आर्थिक अनुदान देकर ग्रन्थ के प्रकाशन को सुगम बनाया।

मैं प्रिय श्रीमती श्याम दुलारी देवी को धन्यवाद देता हूँ, जिसने मेरी प्रत्येक कठिनाइयों में कदम से कदम मिलाते हुए अपने त्याग एवं सहनशीलता से हमें प्रोत्साहित करती रहीं।

अन्त में स्मृति-शेष बड़े पिता स्वर्गीय श्री जगरदेव प्रसाद की वन्दना करता हूँ जिनके त्याग एवं मार्ग निर्देशन के फलस्वरूप मैं इसके योग्य बना। वास्तव में इनके त्याग एवं उपदेशों के बिना आज यह कार्य कदापि सम्भव नहीं हो पाता।

ग्रन्थ के शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशन के लिए मैं डॉ. प्रेमशंकर द्विवेदी का विशेष आभारी हूँ।

विद्वानों की सेवा में ग्रन्थ को उपस्थापित करते हुए मैं आशा एवं विश्वास करता हूँ कि यह ग्रन्थ बौद्ध अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी शोध कार्यों में सहायक सिद्ध होगा तथा पर्याप्त सावधानी बरतने पर भी इसमें रह जाने वाली त्रुटियों एवं विसंगतियों के लिए मुझे क्षमा करते हुए सारस्वत हंस की भाँति केवल सारतत्व का ही ग्रहण करेंगे।

डॉ. रामबली
एम.ए., पी-एच.डी., बी.एड.

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड

पंचम-खण्ड

उपसंहार

शब्द-संकेत-सूची

अ.	=	अध्याय
अनु.	=	अनुवादक
अं.नि.	=	अंगुत्तर निकाय
अर्थ.	=	अर्थशास्त्र
अ.पु.	=	अग्निपुराण
अ.वि.सू.	=	अर्थविनिश्चय सूत्र
अ.को.	=	अमरकोश
अभि.को.	=	अभिधर्मकोश
अ.श.	=	अवदान शतक
अ.अभि.	=	अशोक के अभिलेख
अ.सा.प्र.पा.	=	अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता
अष्टा.नि.	=	अष्टादस निकाय
आ.ध.सू.	=	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
उ.	=	उदान
कठो.	=	कठोपनिषद्
क.व.	=	कथावस्तु
कौ.अ.शा.	=	कौटिल्य अर्थशास्त्र
ग.पु.	=	गरुण पुराण
ग.व्यू.	=	गण्ड व्यूह
गी.	=	गीता
गौ.ध.सू.	=	गौतम धर्म सूत्र
चु.व.	=	चुल्ल वग्ग
द.दि.	=	दर्शन दिग्दर्शन
द.भू.	=	दस भूमिश्वर

दिव्या.	=	दिव्यावदान
दी.नि.	=	दीघ निकाय
दे.भा.पु.	=	देवी भागवत पुराण
धम्म.	=	धम्म पद
ध. शा. इ.	=	धर्म शास्त्र का इतिहास
न.ना.स.	=	नन्जियों का नागरी संस्करण
न्या.बि.	=	न्याय बिन्दु
प्वा.आ.क.	=	प्वाइन्ट ऑव कन्ट्रोवर्सी
पा.सा.इ.	=	पालि साहित्य का इतिहास
प्रा.भा.	=	प्राचीन भारत
प्रा.भा.सा.इ.	=	प्राचीन भारत का सामाजिक-इतिहास
प्रा.भा.सं. जी.	=	प्राचीन भारत में संगठित जीवन
प्रा.भा.सं.क.द.	=	प्राचीन भारतीय संस्कृति कला और दर्शन
प्रा.म.का.भा.इ.	=	प्राचीन तथा मध्य कालीन-भारतीय इतिहास
प्रा.रा.वं. बौ.ध.	=	प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म
बु.इ.	=	बुद्धिस्ट इण्डिया
बु.का.स.ध.	=	बुद्ध कालीन समाज और धर्म
बु.ग्र.	=	बुद्ध ग्रन्थावली
बु.च.	=	बुद्ध चरित
बु.रे.वे.व.	=	बुद्धिस्ट रेकार्ड आव् वेस्टर्न वर्ड
बु.लि.	=	बुद्धिस्ट लिजेण्ड्स
बो.च.	=	बोधि चर्यावतार
बौ. गृ.सू.	=	बौद्धायन गृह्य सूत्र
बौ.द.	=	बौद्ध दर्शन
बौ.द. मी.	=	बौद्ध दर्शन मीमांसा

बौ.ध.द.	=	बौद्ध धर्म दर्शन
बौ.ध.वि.इ.	=	बौद्ध धर्म के विकास का-इतिहास
बौ.स.का.स.	=	बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा
भा.क.	=	भारतीय कला
भा.द.	=	भारतीय दर्शन
म.नि.	=	मज्झिमनिकाय
म.पु.	=	मत्स्य पुराण
मनु.	=	मनुस्मृति
म.भा..	=	महाभारत
म.या.सू.	=	महायान सूत्रालंकार
म.व.	=	महा वग्ग
म.वस्तु.	=	महावस्तु
म.वस्तु.अ.	=	महावस्तु अवदान
म.वं.	=	महावंस
मि.प.	=	मिलिन्द पन्हो
लंका.	=	लंकावतार
ल.वि.	=	ललित-विस्तर
स.पु.	=	सद्धर्मपुण्डरीक
स.रा.	=	समाधिराज
सं. नि.	=	संयुक्त निकाय
सु.नि.	=	सुत्तनिपात
सु.प्र.	=	सुवर्ण प्रभास
हि.इ.नि.	=	हिस्ट्री आव् इण्डियन लिट्रेचर

भूमिका

(क) महायान का उद्भव एवं विकास

ब्राह्मण धर्म के प्रतिपक्षी धर्म के रूप में जिन धर्मों का प्रचार-प्रसार हुआ, उनमें बौद्धधर्म भी एक है। इसके आदि प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। ऐसे काल में, जब नाना प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों पर विचार होते थे तथा ब्रह्मचारियों के साथ-साथ गृहस्थ भी सत्यान्वेषण में घर-बार छोड़कर भिक्षु या वनस्थ होते थे, गौतम बुद्ध का जन्म शाक्यवंशीय राजा शुद्धोधन के यहाँ ५६३ ई. पूर्व. में हुआ। इनका कुल क्षत्रिय एवं गोत्र गौतम था।

गौतम २९ वर्ष की अल्पायु में ही सम्पूर्ण सांसारिक सुखों का त्याग करके जीवन के अनन्त दुःखों से मुक्ति पाने का उपाय ढूँढने के लिए निकल पड़े तथा अपनी कठिन एवं अनवरत साधना के फलस्वरूप गया के समीप वैषाख पूर्णिमा को सत्य (सम्बोधि) की प्राप्ति की। सम्बोधि के अनन्तर उन्होंने अपने ज्ञानालोक से जनता को सद्धर्म का मार्ग दिखलाकर समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करना प्रारम्भ किया। बुद्ध का यह सद्धर्म ही "बौद्ध धर्म" कहलाया।

महात्मा बुद्ध ४५ वर्षों-तक अनवरत धर्मोपदेश करते रहे। वे वर्षा-काल को छोड़कर निरन्तर चारिका पर रहते थे तथा विभिन्न नगरों एवं ग्रामों में जाकर लोगों के दुःख दूर करने का प्रयास करते थे। राजा और रंक, ऊँच एवं नीच तथा स्त्री और पुरुष सभी उनके अनुयायी बने थे तथा उनके प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। वे अपने भ्रमण-काल के जीवन में पूरब में चम्पा (आधुनिक भागलपुर) और संथाल परगना तक, पश्चिम में कुरुक्षेत्र (हस्तिनापुर, हरियाणा) के कम्पासदम्भ और सुल्लकोट्ठित नगरों तक, उत्तर में कपिलवस्तु तथा दक्षिण में कौशाम्बी तक के क्षेत्रों में गये।

बुद्ध के अनुयायियों में सभी वर्गों के लोग थे- बिम्बिसार और प्रसेनजित जैसे सम्राट, अनाथपिण्डक तथा पूर्ण जैसे धनी सेठ, जीवक जैसे प्रख्यात चिकित्सक, सुनिध और वर्षकार जैसे राज्य कार्य कर्त्ता, आम्रपाली जैसी गणिका, अंगुलिमाल जैसे डाकू, चुन्द जैसे कारीगर और कौण्डिन्य जैसे ब्राह्मण तपस्वी। भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में त्रिपिटक में इस प्रकार का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है "जिस प्रकार कोई औंधे को सीधा कर दे, ढके को खोल दे, भूले को मार्ग दिखा दे तथा अन्धकार में तेल का दीपक रख दे, जिससे आँख वाले रूप को देखें, वैसे ही भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया।" उनके शिष्य भी विभिन्न टुकड़ियों में बँटकर दूर-दराज के क्षेत्रों में धर्म-प्रचार किया करते थे।

अपनी वृद्धावस्था तक बुद्ध धर्म-प्रचार के लिए यायावर का जीवन व्यतीत करते रहे। अपनी उन्यासी (७९) वर्ष की अवस्था में वे राजगृह पहुँचे। उनकी परिचर्या में उनके परम् शिष्य आनन्द नियोजित थे। संयुक्त निकाय में बुद्ध के वृद्धावस्था का वर्णन इन शब्दों में किया गया है- भगवान् की त्वचा का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात्त नहीं है। गाल शिथिल है। सम्पूर्ण शरीर झर्रियों से युक्त है। काया आगे की ओर झुक गयी है। इन्द्रियों में भी विकार उत्पन्न हो गया है।

बुद्ध राजगृह से पाटलिपुत्र होते हुए वैशाली पहुँचे। वहीं बेलुग्राम में वे अस्वस्थ हो गये। बुद्ध ने अपने जीवन के विषय में स्वयं कहा "आज से तीन महीने बाद तथागत का अन्त हो जायेगा" एक दिन उन्होंने आनन्द से कहा "आनन्द! मैं जीर्ण, वृद्ध, अध्वगत वय: प्राप्त हूँ। मेरी आयु अस्सी (८०) वर्ष की है। आनन्द जैसे पुरानी गाड़ी बाँध-बूँधकर चलती है, वैसे ही तथागत का शरीर बाँध-बूँधकर चल रहा है। इसलिए आनन्द आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य शरण, धर्म शरण, धर्मदीप होकर विचरण करो।

इसके पश्चात् वैशाली से अनेक ग्रामों एवं नगरों से होते हुए पावापुरी से भगवान् कुशीनगर (देवरिया) पहुँचे। वहाँ उन्होंने मल्लों के सालवन में विश्राम किया। भिक्षुओं को बुलाकर उन्होंने धर्मोपदेश दिया- "आनन्द! तुम शायद ऐसा सोचो कि हमारे शास्ता चले गये। अब हमारे शास्ता नहीं है। आनन्द इसे ऐसा न समझना। मैंने जो धर्म और विनय के उपदेश किये हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।

उसी समय बुद्ध ने आनन्द से कहा कि वे कुशीनगर के मल्लों को हमारे अन्तिम समय की सूचना दे दें। सूचना मिलते ही वहाँ मल्ल लोग इकट्ठा होने लगे। उसी समय कुशीनारा के श्रमण सुभद्द ने बुद्ध द्वारा दीक्षित होकर अन्तिम उपदेश प्राप्त किया। तदुपरान्त भगवान् बुद्ध का निर्वाण ४८३ ई. पू. कुशीनारा में ही हुआ जिसे महापरिनिर्वाण के नाम से जाना जाता है। भगवान् के अन्तिम शब्द ये थे- "सब संस्कार अनित्य है। अपने निर्वाण के लिए बिना प्रमाद के यत्नशील हो, तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो- "अन्तदीपा विहरथ", दूसरे का सहारा न ढूँढ़ो।

बौद्ध सम्प्रदाय

यद्यपि संघभेद का कारण बुद्ध के दिनों में ही देवदत्त के प्रसङ्ग से प्राप्त होता है तथापि इसे पालि साहित्य में संघभेद की मान्यता नहीं दी जाती है, क्योंकि देवदत्त अपने प्रयासों में सफल नहीं हुआ।

"चुल्लवग्ग" के अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् संघ में भेद हुआ। वैशाली के भिक्षु विनय-नियमों के पालन में शिथिल थे। कुछ वस्तुओं को लेकर उनमें मतभेद हुआ, जिससे पूर्व एवं पश्चिम के भिक्षुओं में दो पक्ष हो गये। इस विवाद के निवारणार्थ वैशाली में ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में ७०० भिक्षुओं की एक सभा सम्पन्न

हुई। इसमें आठ स्थविरों की एक समिति चुनी गई, जिसमें चार पूर्व के एवं चार प्रतिनिधि पश्चिम के रखे गये। उस समय पूर्व संघ का प्रधान स्थान वैशाली था। इस सभा के पहले पश्चिम के भिक्षुओं ने अपनी एक सभा मथुरा के पास अहोगंग में की थी। यश पहले कौशाम्बी गये और वहीं से भिक्षुओं को आमन्त्रित करने के लिए सन्देश भेजे। इस निमन्त्रण में लगभग ६६ पश्चिम के भिक्षु आए जो सब आरण्यक धुतंगवादी थे और अवन्ती के ८८ भिक्षु आए जिनमें थोड़े ही धुतंवादी थे। इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय बौद्ध-शासन के तीन केन्द्र थे- (१) वैशाली जहाँ पर ७०० भिक्षुओं की सभा हुई, (२) कौशाम्बी जहाँ से यश ने सभा करने के लिए भिक्षुओं को आमन्त्रित किया था और (३) मथुरा जहाँ पश्चिम के भिक्षुओं की अपनी सभा हुई थी।

इस वृहद क्षेत्र में तीन प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं-

१. वैशाली (पूर्व) में विनय नियमों के पालन में शिथिलता थी। इस सभा के भिक्षु बुद्ध विनय के कठोर सिद्धान्तों के सरलीकरण एवं संशोधन के पक्षधर थे।

२. मथुरा (पश्चिम) में विनय की कठोरता थी। यहाँ के बौद्ध भिक्षु सिद्धान्तों के प्रति बड़े ही दृढ़ थे, जिन्हें विनय के नियमों में किसी भी प्रकार का संशोधन मान्य नहीं था।

३.कौशाम्बी-अवन्ती और दक्षिणापथ में मध्यम विचारधारा थी। अवन्ती और दक्षिणापथ का भौगोलिक सम्बन्ध कौशाम्बी से था। यश ने दक्षिणापथ के भिक्षुओं की सभा करने की आवश्यकता नहीं समझी। केवल कौशाम्बी के प्रमुख भिक्षुओं का मत जानना ही पर्याप्त समझा। इससे ऐसा लगता है कि वैशाली, मथुरा और कौशाम्बी तीन निकायों के केन्द्र बन गये। पूर्वी भारत बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप का प्रदेश था। मध्य देश में ब्राह्मणों के प्रभाव से इस रूप में परिवर्तन होने लगा था। यही दो निकाय हो गये। पहला कौशाम्बी का, जो दक्षिणापथ की ओर झुकता था, जिससे स्थविरवाद निकला हुआ प्रतीत होता है। दूसरा मथुरा का निकाय, जो उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा जिससे सर्वास्तिवादी निकायों की उत्पत्ति हुई।

वैशाली की द्वितीय संगीति के समय से बौद्ध संघ में अनेक सम्प्रदाय चल पड़े और वज्जिपुत्रकों (स्थविरवादी शाखा के भिक्षु जो बुद्ध-सिद्धान्तों के विरूद्ध आचरण करने वाले थे) के द्वारा बौद्ध नियमोल्लंघन के फलस्वरूप जो तीन प्रमुख सम्प्रदाय- स्थविरवाद (थेरवाद), सर्वास्तिवाद (सब्बत्थिवाद) एवं महासांघिक हुए थे, विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होते जाने के कारण उनकी संख्या अशोक के समय तक अट्ठारह हो गई।

(१) कथावस्तु की अट्ठकथा के अनुसार इन अष्टादश निकायों में स्थविरवाद के स्थविरवाद, महीशासक, वज्जिपुत्रक (वात्सीपुत्रीय) सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, काश्यपीय, सांक्रान्तिक (सौत्रान्तिक सूत्रवादी), धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक षण्णागरिक (छन्नागारिक) एवं

सम्मतीय, ये द्वादश सम्प्रदाय, महासांघिक के महासांघिक, एक व्यावहारिक, गोकुलिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक एवं चैत्यवादिन, ये छः सम्प्रदाय प्रचलित हो गये। वसुमित्र के द्वारा प्रणीत ''अष्टादश निकाय'' नामक ग्रन्थ के चीनी और तिब्बती रूपान्तरण में ऐक्यमत्य न होते हुए भी इन्हीं अष्टादश निकायों का उल्लेख है।

यहाँ पर ''निकाय'' का तात्पर्य ''सम्प्रदाय'' से है। इन निकायों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त थे। वे कालान्तर में विलुप्त हो गये, परन्तु उनके उल्लेख परवर्ती बौद्ध ग्रन्थों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं यद्यपि इनके नाम, स्थान एवं समय के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में ऐकमत्य नहीं है। निकाय-भेद का एक प्राचीन विवरण ''दीपवंश'' में भी उपलब्ध होता है, जिसकी रचना सिंहल में ई. की चतुर्थ शताब्दी में हुई। इसके अनुसार परिनिर्वाण से दूसरी और तीसरी शताब्दियों में (दूसरी और तीसरी बौद्ध संगीतियों के मध्य में) अट्ठारह सम्प्रदायों का आविर्भाव हो चुका था एवं स्थविरवाद के विरूद्ध अभिमतों के खण्डन के लिए अशोक के समय में मोग्गलिपुत्ततिस्स ने 'कथावत्थुप्पकरण' की रचना की। आचार्य बुद्धघोष ने कथावस्तु की अट्ठकथा में अनेक नवीन निकायों के नामों का उल्लेख किया है, जैसे- राजगिरिक, एन्ब्रसेलीय, अपरसेलीय, हेमवत, वज्जिरिय, उत्तरापथक, हेतुवादी एवं वेतुल्लक (वैतुल्यक)।

२. निकाय-भेद विषयक महासांघिकों की परम्परा ''शारिपुत्रपरिपृच्छा'' सूत्र से अंशतः विदित होती है। इसके अनुसार परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी में महासांघिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ एवं उसके एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी, कौक्कुलिक, बहुश्रुतिक एवं प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदायों का जन्म हुआ। निर्वाण से तीसरी शताब्दी में वात्सीपुत्रीय एवं सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय निकले। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय से धर्मोपक, भद्रयानिक, सम्मतीय एवं षण्णागरिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। सर्वास्तिवादी से धर्मगुप्तक, महीशासक एवं सुवर्षक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। स्थविरवाद से काश्यपीय एवं सूत्रवादियों का जन्म हुआ। संक्रान्तिकों की उत्पत्ति स्थविरवाद के क्रोड से निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी में हुई।

३. सर्वास्तिवादियों की परम्परा वसुमित्र के द्वारा प्रणीत ''अष्टादशनिकाय'' नामक ग्रन्थ में भी सुरक्षित है। इस ग्रन्थ के चीनी और तिब्बती भाषा में अनुवाद उपलब्ध हैं।[१] प्राचीनतम अनुवाद ३५१ और ४३१ ई. के बीच सम्पन्न हुआ। चीनी परम्परा के अनुसार यह वही वसुमित्र था जिसने कनिष्क कालीन संगीति में ख्याति प्राप्त की। वसुमित्र के अनुसार महासांघिक तीन शाखाओं में विभक्त हुए, एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी, कौक्कुलिक। पीछे महासांघिकों से बहुश्रुतीय का उदय हुआ तथा इसके बाद में प्रज्ञवादियों का जन्म हुआ। बुद्धाब्द के दूसरे शतक के समाप्त होते ही चैत्यगिरिवासी दूसरे महादेव के विवाद के कारण चैत्यशैल, अपर शैल एवं उत्तर शैल शाखाएँ निकल पड़ीं। स्थविरवादी निकाय, सर्वास्तिवाद या हेतुवाद तथा मूल स्थविरवाद मे विभक्त हुआ। मूल स्थविरवाद निकाय का नाम ही हेमवत निकाय पड़ा। उत्तर काल में सर्वास्तिवाद से वात्सीपुत्रीयों का आविर्भाव हुआ था वात्सीपुत्रीयों से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक सम्मतीय एवं छन्नगरिक अथवा षण्णगरिक

सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् सर्वास्तिवादियों से महीशासक, महीशासक से धर्मगुप्तक और तीसरी बुद्ध शताब्दी के अन्त में सर्वास्तिवादियों से काश्यपीय या सुवर्णकों का आविर्भाव हुआ। चतुर्थ बौद्ध शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वास्तिवाद से सौत्रान्तिक अथवा संक्रान्तिवादियों का जन्म हुआ।

महायान का उद्भव

महायान के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में महायान सूत्रों में निर्दिष्ट मत ऐतिहासिक दृष्टि से सन्देह उत्पन्न करता है। महायान सूत्र अपने को बुद्धप्रोक्त बतलाते है, किन्तु उनकी भाषा एवं शैली उनके परवर्ती होने की सूचना देता है। ''अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता'' ही महायान सूत्रों में सबसे प्राचीन सिद्ध होती है, जिसका लोकरक्ष ने चीनी में १४८ ई. में अनुवाद किया था।[२] कनिष्क के समकालीन नागार्जुन ने पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पर व्याख्या लिखी।[३] इससे प्रज्ञापारमिता साहित्य की परिणिति ई. दूसरी शताब्दी से प्राचीन अवश्य सिद्ध होती है, किन्तु ऐसे अनुमान से उसका मूल अधिक से अधिक ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से प्राचीन नहीं माना जा सकता। जब स्वयं ये महायान सूत्र बुद्ध युग से पर्याप्त परवर्ती हैं तो इन सूत्रों में प्रतिपादित महायान की मूल प्राचीनता असिद्ध हो जाती है। फलतः ऐतिहासिक दृष्टि से महायान को सद्धर्म का विकृत रूप मानने की सम्भावना प्रस्तुत होती है। यह स्वाभाविक है कि धर्म का प्रचार-प्रसार अशोक के समान श्रद्धालु और प्रतापी सम्राट के सहयोग एवं संरक्षण तथा तत्कालीन संघ के प्रयत्नों से विशेष गति से हुआ। इसी समय से सद्धर्म भारतीय प्रास्तरिक, वास्तुकला एवं मूर्ति कला की एक प्रधान प्रेरणा के रूप में प्रकट होता है एवं जातकों का महत्व अधिक हो जाता है। ई. पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी तक भारतीय संस्कृति का एक संक्रमण काल है, जब अनेक विदेशी जातियाँ भारत में उत्तर पश्चिम से आयी और उन पर भारतीय संस्कृति ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा उत्तरी-पश्चिमी मार्गों से मध्य एशिया एवं चीन तक अपने प्रभाव का विस्तार किया। इसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म जहाँ एक ओर एशिया व्यापी प्रभाव स्थापित कर सका, दूसरी ओर उसका आवश्यक रूपान्तर भी हुआ।

महाराज अशोक के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् उनका प्रश्रय पाकर बौद्ध धर्म बहुत फूला-फला। अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचारार्थ दूर-दूर उपदेशक भेजे। भारत से बाहर भी अशोक के द्वारा भेजे गये उपदेशक गये थे। इसके अतिरिक्त अशोक ने अनेक स्तूप एवं विहार बनवाए। अशोक के कौशाम्बी लेख से मालूम होता है कि यहाँ एक भिक्षु संघ था। एक संघ का पता सारनाथ के लेख से चलता है। अशोक के समय में ही 'खुतन' में भारतीयों का उपनिवेश हुआ था और यहीं से सर्वप्रथम बौद्ध धर्म चीन गया। अशोक के समय में सद्धर्म के प्रचार के लिए विशेषतः प्रत्यन्तिम जनपदों में उसे एक सरल और मूर्त रूप देने का जो प्रयास जारी था, उसने ही क्रमशः महायान को जन्म दिया। इससे नाना सम्प्रदायों, जातियों एवं धर्मों के प्रभाव से महायान में विभिन्न तत्वों का समावेश हुआ। हीनयान ही मूल और प्रारम्भिक बुद्ध-शासन था, जिसके वाङ्मय की

प्राचीनता निःसन्देह है।

अशोक के समय में बौद्धों में मूर्ति-पूजा नहीं थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त आसन, चक्र, कमल-पुष्प या चरण पादुका था। स्तूप में बुद्ध का धातुगर्भ रखकर पूजा की जाती थी। यह कथा प्रचलित है कि अशोक ने बुद्ध की अस्थियों को प्राचीन स्तूपों से निकलवाकर ८४००० स्तूपों में बाँट दिया। प्रारम्भ में बुद्ध अन्य अर्हतों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे, तथापि उनका जन्म-लक्षण, मार-धर्षण जन्म के पूर्व तुषित लोक में निवास, उनकी मृत्यु सभी अद्भुत थे, तथापि प्राचीन निकायों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण अन्य अर्हतों के निर्वाण से भिन्न था। उनका विश्वास यह न था कि परिनिर्वृत्त बुद्ध इस लोक में हस्तक्षेप कर सकते हैं। यद्यपि ये बुद्ध के निर्वाण को महाशून्य मानते थे तथापि उनके लिए बुद्ध त्राता नहीं थे। शास्ता ने भिक्षुओं से कहा है कि "तुम्हीं अपने लिए दीपक हो, दूसरे का आश्रय मत लो। धर्म ही तुम्हारा एक मात्र दीप, शरण एवं सहाय है।[४] बुद्ध का कहना था कि प्रत्येक को निर्वाण का साक्षात्कार स्वयं करना होता है। उनके लिए वे संघ के गणाचार्य थे, शास्ता थे, किन्तु जब शास्ता का परिनिर्वाण हो गया, तब पूजा का विषय अतीन्द्रिय हो गया।

वस्तुतः महायान को केवल मूल बुद्ध-शासन अथवा उसका शुद्ध विकास या विकृत रुप मात्र मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। न तो हीनयान के सभी शास्त्रों और सिद्धान्तों को मूल बुद्ध-शासन समझा जा सकता है, न महायान के। मूल बुद्धोपदेश अवश्य ही शिष्यों के अधिकार-भेद से विविध था और उनमें हीनयान तथा महायान दोनों के बीज विद्यमान होते हुए भी इनका स्पष्ट भेद नहीं किया गया था। कालक्रम से मूल देशना परवर्ती व्याख्याकान्तार तथा प्रक्षिप्त सन्दर्भ-राशि में अधिकाधिक दुर्लभ हो गई। पालि त्रिपिटक के अतिरिक्त अन्य पिटक एवं उनकी व्याख्याओं का मूल बुद्ध-वचन से सम्बन्ध नहीं है, फिर भी कल्पना-प्राचुर्य एवं आग्रह के द्वारा उनका भगवान् बुद्ध से सम्बन्ध जोड़ा गया। हीनयान को मूल बुद्ध-शासन न मानकर उसका एक विपरिवर्तित अथवा विकसित रूप मानना चाहिए। यही स्थिति महायान की भी है। महायान वस्तुतः संकीर्ण अथवा मिश्रित रूप है। महायान के कुछ अंश हीनयान से विकसित हुए। कुछ मूल बुद्ध-शासन की पुनर्व्याख्या के फलस्वरूप प्रतिष्ठित हुए तथा कुछ अनके भौगोलिक, सांस्कृकि एवं मतान्तरों के प्रभाव से उत्पन्न हुए हैं। यह सत्य है कि महायान सूत्र हीनयान के आगमों से परवर्ती हैं और यह भी सत्य है कि हीनयान में स्वीकृत सूत्रों से ही मूल शासन का पता चल सकता है, फिर भी यह मानना होगा कि महायान बुद्ध-शासन का पुनरुद्धारक एवं उसकी प्रतिष्ठा करने वाला है, साथ ही महायान का बहुत-सा भाग प्रचार सौविध्य एवं नाना वाह्य प्रभावों का परिणाम है। अतः यह मानना होगा कि हीनयान के अतिरिक्त महायान का दार्शनिक मूल भी बुद्ध देशना में ही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से वासना-क्षय के लिए धर्म-प्रविचय का उपदेश देते हुए तथागत ने स्वयं अनुभूत अनिर्वचनीय और अद्वय परमार्थ दर्शन की भी सूचना दी है।[५] उनकी देशना के ये ही दोनों पक्ष हीनयान और महायान के रूप में

क्रमशः विकसित हुए।

बुद्ध स्वयं सन्यासी थे तथा सन्यास की शिक्षा देते थे, किन्तु प्रचलित "श्रामण्य" में संशोधन करके उपासक गृहस्थों द्वारा भिक्षुओं को प्रदत्त आवासिक जीवन एवं अन्य सुविधाओं की अनुमति प्रदान की। अपने दृष्टान्त एवं उपदेश से उन्होंने धर्म को "सर्व-सत्व-हित" प्रतिपाद्य बतलाया। फलतः तथागत के सन्यास शिक्षा का वास्तविक अभिप्राय केवल अपना आध्यात्मिक स्वार्थ-साधन नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक "पदार्थ" के इस तत्व का समुचित बोध ही महायान की प्रधान प्रेरणा है। सम्बोधि के उपरान्त ब्रह्मयाचन के वृत्तान्त की समुचित व्याख्या इसी दिशा में संकेत करती है। सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर लोक की ओर दृष्टिपात करने से भगवान् बुद्ध ने करूणा का अनुभव किया तथा विश्व के कल्याणार्थ देशना का कार्य-भार स्वीकार किया। प्रज्ञा और करूणा ही महायान की अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं।

महायान का विकास

महायान की प्रधान प्रेरणा बुद्ध की जीवनी थी। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के द्वारा "आश्रितयान" ही वास्तविक महायान है। महायानी साधक ठीक उसी मार्ग का पथिक है, जिसके शाक्यमुनि स्वयं थे। मूल विनय के सम्पादन में तथागत की एक प्राचीन जीवनी भी संग्रहीत थी, जो सम्भवतः उनके बोधिसत्त्व-काल का विवरण भी प्रस्तुत करती थी। महासांघिकों से विरोध होने पर स्थविरों ने इस जीवनी के कुछ अंश विशेषतः पूर्वभाग को स्थानान्तरित एवं संक्षिप्त कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है।[६] दूसरी ओर महासांघिकों में इस परम्परा ने और पुष्टि पायी। महासांघिकों में बुद्ध को लोकोत्तर अवधारित किया गया तथा बोधिसत्त्व की अलौकिकता भी स्थापित की गई। स्थविरवादी बोधिसत्त्व एवं बुद्ध को महापुरुष, किंतु मनुष्यमात्र मानते थे, जिनके उपदेशों का अनुकरण उपयोगी है, उनके जीवन का अनुकरण अथवा भक्ति की भावना कम। बुद्ध के सर्वज्ञत्व, करुणा आदि गुण अर्हतों में नहीं पाये जाते। बुद्धत्व पर जितना ही मनन किया गया, उतना ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता अधिकाधिक प्रकट हुई। महायान परम्परा में बुद्ध का जन्म साधारण जन्म से भिन्न और अलौकिक होता है। अन्ततः महासांघिकों ने बुद्ध के लौकिक जीवन को उनकी मायिक लीला मात्र माना।[७] बुद्ध वस्तुतः तुषित लोक में ही नित्य प्रतिष्ठित हैं।[८] केवल उनके निर्माण-काय ने ही प्रकट होकर लोकानुग्रह किया।

महासांघिकों का बुद्ध और बौधिसत्त्व की अलौकिकता का यह सिद्धान्त उनकी ओर भक्ति-भावना से अविभूत है तथा महायान से साक्षात् सम्बन्ध रखता है। महायानिक त्रिकायवाद एवं भक्ति का मूल महासांघिक सिद्धान्तों में ही ढूँढना चाहिए। प्रकारान्तर से भी महासांघिकों में महायान की अवधारणा देखी जा सकती है। अनाश्रव रूपकाय की कल्पना को बुद्ध-प्रतिमा के आविर्भाव में प्रधान कारण स्वीकार किया जा सकता है। जातक कथाओं में वर्णित

बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की कल्पना तथा लोकोत्तरवाद ने बुद्ध विषयक अनुस्मृति एवं भक्ति को बढ़ावा दिया। जातकों का विकास बोधिसत्त्व की महिमा में वृद्धि को प्रदर्शित करता है। यहाँ पर बोधिसत्व के द्वारा नाना पारमिताओं के साधन की कथाएँ भी बहुलता से प्राप्त होती हैं, जैसाकि चरियापिटक एवं महावस्तु से स्पष्ट होता है। ई. पू. दूसरी शताब्दी में जातक एवं बुद्ध जीवनी को प्रस्तर कला ने मूर्तरूप देना प्रारम्भ किया, किन्तु इस कला में बुद्ध की रूपकाय का प्रदर्शन न करके उसे केवल सांकेतिक रूप से ही आलिखित किया जाता था। महासांघिकों ने रूप की अनाश्रवता की सम्भावना दिखलाकर इस मानसिक प्रतिमा की भौतिक अभिव्यक्ति का मार्ग निष्कंटक बना दिया। चित्त को स्वाभाविक प्रभास्वरता एवं निर्मलता प्राचीन सूत्रों में संकेतित है। महासांघिकों ने इस तत्त्व को स्वीकार कर उद्घोषित किया तथा यही महायानिक विज्ञानवाद का बीज है। दूसरी ओर कुछ महासांघिक सम्प्रदायों ने सभी लौकिक धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र बतलाकर विज्ञानवाद की भूमि को और बढ़ाया। महायान की वैतुल्यक शाखा को बुद्धघोष ने महाशून्य वादी बतलाया है। कुछ अन्य हीनयानी सम्प्रदायों ने भी महायान के विकास में योगदान किया है। इस प्रसंग में सर्वास्तिवादी एवं धर्म गुप्तक सम्प्रदाय विशेषतः उल्लेखनीय है।[९] हरिवर्मा के "सत्यसिद्धि सम्प्रदाय" को हीनयान और महायान के संक्रमण काल का बताया गया है।[१०]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि महायान के विकास में निम्नोक्त कारण उत्तरदायी हो सकते हैं- बुद्ध-देशना के पारमार्थिक अंश एवं बुद्ध-जीवन पर मनन तथा ध्यान। दार्शनिक विचार एवं आध्यात्मिक अनुभव के विकास की सहज गति, अनेक हीनयानी सम्प्रदायों के सिद्धान्त और साहित्य, महासांघिकों के सिद्धान्त, प्रचार एवं प्रसार के लिए धर्म को जनाकर्षक और मूर्तरूप देने का प्रयत्न, विशेषतः प्रत्यन्तिम जनपदों में। महायानं के उद्भव पर उपनिषद के अनिर्वचनीय ब्रह्मवाद एवं मायावाद का तथा भागवत धर्म के अवतारवाद एवं भक्ति के तत्त्वों का प्रभाव कदाचित् स्वीकार करना चाहिए।

दूसरी संगीति के समय हम वैशाली के प्राचीनक भिक्षुओं को प्राची की प्रशंसा में यह कहते हुए पाते हैं कि इसी भू-भाग में तथागत जन्म ग्रहण करते हैं। विनय में शिथिल और अर्हतों के आलोचक ये भिक्षु महासांघिक नाम से प्रसिद्धि पाकर पहले वैशाली और पाटलिपुत्र में केन्द्रित थे, बाद में अनेक शाखाओं में विभक्त हो कर मुख्य रूप से आन्ध्रापथ में तथा गौण रूप से सुदूर उत्तर पश्चिम में फैले। कथावस्तु के अन्त में महासांघिकों की वैतुल्यक शाखा के मत का उल्लेख है, परन्तु महायान का उल्लेख नहीं है। महाशून्यतावादी वैतुल्यक महायान के निकटतम हैं। कथावस्तु का समय शेष पालि त्रिपिटक के साथ प्रथम शताब्दी ई. पू. से पहले का मानना चाहिए तथा मोग्गलिपुत्ततिस्स के द्वारा रचित होने के कारण अशोक के बाद का। फलतः वैतुल्यक को ईसा पू. दूसरी शताब्दी में मानना उचित होगा। अन्ध्रक महासांघिकों की एक शाखा पूर्व शैली थी। कहा जाता है कि इनके पास प्राकृतनिबद्ध प्रज्ञापारमिता सूत्र थे, लेकिन वे इस समय अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में इनका उल्लेख महत्वहीन नहीं है, विशेषतः यदि हम अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की यह

उक्ति स्मरण करें कि प्रज्ञापारमिता का उद्‍भव दक्षिणापथ में होगा, जहाँ से वह पूर्व दिशा को प्राप्त होगी और अन्ततः उत्तर में समृद्धि प्राप्त करेगी।[११]

अष्टसाहस्रिका का अनुवाद लोकरक्ष के द्वारा चीनी में १४८ ई. में कर दिया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि आन्ध्र देशीय महासांघिकों की पूर्वशैल एवं वैतुल्यक शाखाओं से ईसा पूर्व पहली शताब्दी में महायान का जन्म हुआ। महायान के दक्षिणा-पथ में उद्‍भव के समर्थन में यह स्मरणीय है कि महायान के अधिकांश प्रधान आचार्य दक्षिणात्य ही थे। आन्ध्रापथ से महायान ने मगध तक की यात्रा की। मगध महासांघिकों का प्राचीन केन्द्र था। मगध से महायान व्यापार-पद्धति से उत्तरापथ की ओर अग्रसर हुआ। उत्तरापथ में उड्डियान एवं वामियान तक लोकोत्तरवादियों के आवास पाये जाते थे। पहली शताब्दी ईसवी के समाप्त होते-होते महायान सुदूर उत्तर-पश्चिम में भारत की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था तथा दूसरी शताब्दी से सुग्ध, पर्थव और खोतनी भिक्षुओं के सहारे महायान मध्य एशिया तथा चीन में फैला।

कनिष्क कालीन संगीति में वसुमित्र के साथ ५०० बोधिसत्त्वों का उल्लेख महायानियों की उपस्थिति सूचित करता है।[१२] दूसरी ओर यह भी है कि अभिधर्म महाविभाषा में महायान के सिद्धान्तों का अनुल्लेख यदि गजनिमिलिका नहीं तो अवश्य ही महायान का गान्धार और काश्मीर में उस समय अल्प प्रचार-प्रसार सूचित करता है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि महायान का प्रारम्भ न किसी स्वतन्त्र नियम को लेकर हुआ था, न उसके अपने पृथक आवास थे। महायान सूत्रों में किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का एक स्वतन्त्र शास्त्रीय प्रस्थान के रूप में प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत बुद्ध, बोधिसत्त्व और प्रज्ञा का प्रचलित ढंग से अर्चन-साधन प्रधान विवरण है। अतः यह सम्भव है कि कनिष्क के समय में इन सूत्रों के अभिमत का प्रसिद्ध महासांघिक लोकोत्तरवादी अभिमत से वैशिष्ट्य प्राचीन वैभाषिकों ने ठीक-ठीक हृदयंगम न किया हो। पृथक् शास्त्र के रूप में महायान की स्थापना नागार्जुन असंग आदि आचार्यों के कार्य से ही सम्पन्न हुई।

महायान- इतिहास के इस प्रकार तीन युग निर्धारित किए जा सकते हैं-

१. बीज काल- तथागत की सम्बोधि से वैतुल्यकों तक।
२. सूत्र काल- ईसा पूर्व पहली शताब्दी से ईसवी तीसरी शताब्दी तक।
३. शास्त्र काल- नागार्जुन से परवर्ती।

इस उपखण्ड में बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास के अन्तर्गत भगवान् बुद्ध के जन्म से लेकर सम्बोधि प्राप्ति तक की घटनाओं के साथ-साथ बौद्ध संघ में विनय के नियमों को लेकर किस प्रकार मत-भेद उत्पन्न हुआ और वह मत-भेद बढ़ते-बढ़ते द्वितीय बौद्ध संगीति तक बौद्ध संघ में अनेक सम्प्रदायों के रूप में उदय हुआ, जो कि अशोक कालीन तृतीय बौद्ध संगीति तक १८ सम्प्रदायों के रूप में प्रसिद्ध हुआ आदि का उल्लेख है। यहाँ पर मुख्यतः महासांघिकों के अन्तर्गत आने वाले लोकोत्तर वादियों से सम्बन्धित महायान

सम्प्रदाय के उद्भव एवं विकास के विषय में विशेष रूप से चर्चा की गयी है। अब अगले उपखण्ड में महायान सूत्र साहित्यों का नामोल्लेख करते हुए वैपुल्य आर्य सूत्रों का परिचय दिया जाएगा।

(ख) महायान सूत्र साहित्य

महायान सूत्र साहित्य के परिचय के प्रसंग में असंग, शान्तिदेव, मन्जुघोष- हास-वज्र आदि की उक्तियों से ऐसा प्रमाणित होता है कि महायान में विस्तारित सिद्धान्तों का मूल सम्भवत: प्राचीन सूत्रों में उपलब्ध है तथा हीनयान सम्प्रदाय के साहित्य के कतिपय अंश महायान साहित्य के पूर्व रूप समझे जा सकते हैं। बुद्ध महापरिनिर्वाण की पहली शती में सूत्र और विनय ही बुद्ध वचन के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके पश्चात् परिनिर्वाण से दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में नाना हीनयानी सम्प्रदायों के विकास के साथ-साथ सूत्र पिटक और विनय पिटक के अतिरिक्त अभिधर्म पिटक, सूक्त पिटक, बोधिसत्त्व पिटक और धारिणी पिटक की उत्पत्ति हुई।[१३]

महासांघिकों की बहुश्रुतीय शाखा से सम्बन्धित साहित्य में "अभिधर्म पिटक" के अतिरिक्त बोधिसत्त्व पिटक तथा संयुक्त पिटक भी संगृहीत थे। धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अलावा "धारणी पिटक, बोधिसत्त्व पिटक तथा मन्त्र पिटक का ज्ञान प्राप्त होता है। महासांघिकों का बोधिसत्त्व पिटक एक मात्र ग्रन्थ न होकर एक सन्दर्भ राशि थी। "वैतुल्य" का ही रूपान्तर मानने पर महायान के "वैपुल्य सूत्रों" का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[१४]

यह तथ्य सर्वविदित है कि मूल विनय में बुद्ध की जीवन के कुछ अंश विद्यमान थे। महासांघिकों में बुद्ध जीवनी को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। लोकोत्तरवादियों का विनय पिटक ही अंशत: महावस्तु के नाम से उपलब्ध है। इसमें बुद्ध की जीवनी का प्राधान्य है और उसे हीनयान तथा महायान के बीच की साहित्यिक कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाता है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में एक बुद्ध की जीवनी थी जो विस्तृत और परिवर्धित होकर महायान के प्रसिद्ध वैपुल्य सूत्र "ललित-विस्तर" का रूप धारण कर ली।[१६] धर्म गुप्तक सम्प्रदाय में बुद्ध की एक जीवनी "अभिनिष्क्रमण-सूत्र" के नाम से प्रसिद्ध थी।

महावस्तु

यह मध्यदेशीय महासांघिक लोकोत्तरवादियों का विनय पिटक है। इस विशाल काय ग्रन्थ के तीन भाग हैं। पहले में दीपंकर आदि अनेक बुद्धों के समय में बोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन है। दूसरे में तुषित लोक में बोधिसत्त्व के जन्म ग्रहण से प्रारम्भ करके सम्बोधि लाभ तक का विवरण दिया गया है। तीसरे भाग में संघ के प्रारम्भिक उदय का वर्णन है। यह "बौद्ध संस्कृत" अर्थात् प्राकृत प्रभाव से भ्रष्ट संस्कृत में लिखा गया है। इस ग्रन्थ की रचना कई शताब्दियों में हुई। इसकी रचना का प्रारम्भ अधिकतम प्रथम

शताब्दी तथा अन्त गुप्त कालीन समय निश्चित होता है। महावस्तु में दो शैलियों का भेद आविष्कृत किया गया है, जिससे महावस्तु का अंशतः प्राचीनत्व सिद्ध होता है।

''महावस्तु'' को ''हीनयान एवं महायान के मध्य में पुल'' बताया गया है। बुद्ध और बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता का सिद्धान्त उसमें स्पष्टतः प्रतिपादित है।[१६]

अतीत और प्रत्युत्पन्न बुद्धों की कल्पनातीत संख्या वृद्धि स्पष्टतः महायानत्त्व का प्रदर्शन करती है। बुद्धत्व प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्वों की दस भूमियों का उल्लेख महायान के अत्यन्त निकट है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि बुद्धत्व के प्रार्थियों के लिये ही ''दस भूमिक'' का उपदेश करना चाहिये। दूसरी ओर महावस्तु में अवलोकितेश्वर, अमिताभ आदि का परिचय नहीं है तथा उसका कथा साहित्य एवं प्रमुख सिद्धान्त हीनयान के अन्तर्गत है।

ललित-विस्तर

अपने को ''वैपुल्य सूत्र'' स्थापित करने वाले ''ललित-विस्तर'' में मूल रूप में सर्वास्तिवादियों द्वारा वर्णित बुद्ध जीवनी है।[१७] यह सम्भव है कि कभी इसका आधार प्राकृत निबद्ध परम्परा रही हो। प्राकृत का प्रभाव ''ललित-विस्तर'' की गाथाओं पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गद्य के प्राचीनतम अंशों में भी इस प्रकार का प्रभाव लक्षित होता है, जो पालि-त्रिपिटक के प्राचीन अंशों से आश्चर्यजनक सामन्जस्य प्रदर्शित करता है।[१८] ''ललित-विस्तर'' का प्रारम्भ और अन्त शुद्ध रूप से महायानिक है। इसके आदि में ''ललित-विस्तर'' नाम के ''वैपुल्य-सूत्र'' के उपदेश के लिये बुद्ध से सहस्रों भिक्षुओं और बोधिसत्त्वों के परिषद् में नाना देवताओं की अभ्यर्थना तथा मौन के द्वारा उसका बुद्ध के द्वारा स्वीकार किया जाना वर्णित है। अन्त में ''ललित-विस्तर'' का महात्म्य गान किया गया है। मध्यभाग में तुषित लोक से बोधिसत्त्व के बहुत विमर्श के अनन्तर मातृगर्भ में अवतार से प्रारम्भ करके सम्बोधि के अनन्तर धर्मचक्र प्रवर्तन तक का वृत्तान्त सन्निविष्ट है। प्राचीन विवरण से अधिकांश स्थलों में विशेषतः अभिनिष्क्रमण के बाद से मेल खाती हुई अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं। वर्णन-शैली में एक व्यापक महायानिक ''वैपुल्य'' अथवा विस्तार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

महायानसूत्र

विस्तार एवं परिचय

महायान सम्प्रदाय का अपना कोई विशेष त्रिपिटक नहीं है, क्योंकि महायान कोई एक सम्प्रदाय का नाम नहीं है। इसके अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनके सिद्धान्तों में पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। हीनयान का आगम अपेक्षाकृत सीमित और परिगणित है तथा इसका स्थविरवादी संस्करण अपने मूल रूप में प्राप्त होता है। महायान के सूत्रों का विस्तार वर्तमान समय में अधिकांशतः प्राप्त नहीं होता, फिर भी उनके अनेक संकेत

प्राप्त होते हैं। मूल रूप में प्राप्त होने वाले महत्त्वपूर्ण महायान के सूत्रों औ शास्त्रों की संख्या दो दर्जन के आस-पास है, इससे अधिक नहीं है।

मूल रूप में उपलब्ध महायान सूत्र

(क) प्रज्ञापारिमितायें

(१) शतसाहस्रिका, (२) पंचविंशतिसाहस्रिका (ये दोनों अपूर्ण अवस्था में प्राप्त है), (३) अष्टसाहस्रिका, (४) प्रज्ञापारिमता हृदय (सं. मैक्समूलर और नन्जियों १८८४), (५) सप्तशतिका, (६) दशसाहस्रिका (अपूर्ण), (७) अर्धशतिका, (८) सुविक्रान्तविक्रामिपरिपृच्छाप्रज्ञापारमिता, (९) समाधिराज, (१०) आर्यमत्रैय व्याकरण, (११) वज्रच्छेदिका (सं. मैक्समूलर, १८८८), (१२) सद्धर्मपुण्डरीक (पीट्रसवर्ग,. १९०८ प्र.), (१३) करूणापुण्डरीक (कलकत्ता, १८९८), (१४) करण्डव्यूह (कल. १८७३), (१५) सुखावतीव्यूह (आक्सफोर्ड, १८८३), (१६) सुवर्णप्रभास (कल. १८९८), (१७) राष्ट्रपाल परिपृच्छा (पीट्रसवर्ग, १९०१), (१८) काश्यपपरिवर्त (संघाई, १९२९), (१९) लंकावतार (क्योटो, १९२३), (२०) दशभूमीश्वर, (२१) गण्डव्यूह।

(ख) मूल रूप में उपलब्ध महायानशास्त्र

नागार्जुन- मध्यमक-कारिका ("प्रसन्नपदा" टीका सहित, पीट्रसवर्ग, १९०३), मैत्रेयनाथ- अभिसमयालंकार (लेनिनग्राद, १९२९, टोकियों, १९३२-३५)।

असंग – महायान सूत्रालंकार (पेरिस, १९०७), वसुबन्धु- विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि) (पेरिस, १९२५), दिङ्नाम- न्यायप्रवेश (बड़ोदा, १९३८), धर्मकीर्ति- प्रमाण वार्तिक (इलाहाबाद, १९४४; पटना, १९५३), न्यायबिन्दु (चौखम्भा सं. सी.; पटना, १९५५) शान्तिदेव बोधिचर्यवतार (दरभंगा, १९६०), शिक्षा समुच्चय (पीट्रसवर्ग, १९०२), शान्तिरक्षिततत्त्वसंग्रह (बड़ोदा, १९२६), कमलशील की पंजिका के साथ।

इसके विपरीत शिक्षा समुच्चय में लगभग १०० सूत्र ग्रन्थों का नामोल्लेख प्राप्त होता है।

(१) अक्षयमतिसूत्र, (२) अंगुलिमालिक, (३) अध्याशया संचोदनसूत्र, (४) अनन्तमुखनिर्हारधारणी, (५) अपूर्वसमुदगतपरिवर्तसूत्र, (६) अपरराजाववादकसूत्र, (७) अवलोकनासूत्र, (८) अवलोकितेश्वर विमोक्ष, (९) आकाशगर्भसूत्र, (१०) आर्यसत्यकपरिवर्त, (११) उग्रपरिपृच्छा, (१२) उदयनवत्सराजपरिपृच्छा, (१३) उपायकौशल्यसूत्र, (१४) उपालिपरिपृच्छा, (१५) कर्मावरणविशुद्धिसूत्र, (१६) कामापवादकसूत्र, (१७) काश्यपपरिवर्त, (१८) क्षितिगर्भसूत्र, (१९) गण्डव्यूह, (२०) गगनराजसूत्र, (२१) चतुर्धर्मकसूत्र, (२२) चन्द्रप्रदीपसूत्र, (२३) चन्द्रोन्तरादारिकापरिपृच्छा, (२४) चुन्दाधारिणी, (२५) गोचरपरिशुद्धिसूत्र, (२६) जम्भलस्तोत्र, (२७) ज्ञानवतीयपरिवर्त, (२८) ज्ञानवैपुल्यसूत्र, (२९) तथागतकोकशास्त्र, (३०) तथागतगुह्यक, (३१) तथागतविम्बपरिवर्त, (३२) त्रिसमयराज,

(३३) त्रिस्कन्धक, (३४) दशधर्मसूत्र, (३५) दशभूमिकसूत्र, (३६) दिव्यावदान, (३७) धर्मसंगीतिसूत्र, (३८) नारायणपरिपृच्छा, (३९) नियतानियतावतारसूत्र, (४०) निर्वाणसूत्र, (४१) पिता पुत्र समागम, (४२) पुष्प कुट धारणी, (४३) प्रज्ञापारमिता 'महती' (अष्टसाहस्त्रिका), (४४) प्रवज्याअन्तरायसूत्र (अष्टसाहस्त्रिका), (४५) प्रशान्त विनिश्चयप्रतिहार्यसूत्र, (४६) प्रातिमोक्ष, (४७) वृहत्तसागरराजपरिपृच्छा, (४८) बोधिचर्यावतार, (४९) बोधिसत्वपिटक, (५०) बोधिसत्वप्रातिमोक्ष, (५१) बुद्धपरिपृच्छा, (५२) भगवती, (५३) भद्रकल्पिक, (५४) भद्रचरीप्रणिधानराज, (५५) भिक्षुप्रकीर्णक, (५६) भैषज्यगुरुवैदुर्यप्रभसूत्र, (५७) मंजुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूहकार (५८) मंजुश्रीविकृडितसूत्र, (५९) महाकरुणापुण्डरीकसूत्र, (६०) महामेघ, (६१) महावस्तु, (६२) मारीची, (६३) माला सिंहनाद, (६४) मैत्रेयी विमोक्ष, (६५) रत्नकरण्डसूत्र, (६६) रत्नकूट, (६७) रत्नचूड़सूत्र, (६८) रत्नमेघ, (६९) रत्नराशि, (७०) रत्नोल्काधारीणी, (७१) राजववादकसूत्र, (७२) राष्ट्रपालपरिपृच्छा, (७३) लंकावतारसूत्र, (७४) ललितविस्तर, (७५) लोकनाथ व्याकरण, (७६) लोकोत्तरपरिवर्त, (७७) वज्रच्छेदिका, (७८) वज्रध्वजपरिणामना, (७९) बाचनोपासिकाविमोक्ष, (८०) विद्याधरपिटक, (८१) विमलकीर्तिनिर्देश, (८२) वीरदत्तपरिपृच्छा, (८३) शालिस्तम्बसूत्र, (८४) शूरङ्गमसूत्र, (८५) श्रद्धावलाधानावतारमुद्रा सूत्र, (८६) श्रावकविनय, (८७) श्रीमालासिंहनादसूत्र, (८८) सद्धर्मपुण्डरीक, (८९) सद्धर्ममृत्युपस्थान, (९०) सप्तमैथुन संयुक्तसूत्र, (९१) समाधिराज, (९२) सर्वधर्म वैपुल्य संग्रहसूत्र, (९३) सर्वधर्माप्रवृत्ति निर्देश, (९४) सर्वव्रजधरमन्त्र, (९५) सागरमतिपरिपृच्छा, (९६) सिंहपरिपृच्छा, (९७) सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र, (९८) हस्तिकक्ष्यसूत्र।

महाव्युत्पत्ति में १०५ सूत्रों का उल्लेख है, जिनमें अधिकांश महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है, जो निम्न हैं। यहाँ केवल महायानसूत्र साहित्यों का ही उल्लेख किया जायेगा।

(१) शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता, (२) पंचविंशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, (३) अष्टसाहस्रिका, (४) सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता, (५) पंचशतिकाप्रज्ञापारमिता, (६) त्रिशतिकाप्रज्ञापारमिता, (७) अवतंसक, (८) बोधिसत्त्वपिटक, (९) ललित-विस्तर, (१०) समाधिराज, (११) पिता-पुत्र समागम, (१२) लोकोत्तर परिवर्तन, (१३) सद्धर्मपुण्डरीक, (१४) गगनगंज, (१५) रत्नमेध, (१६) लंकावतार, (१७) सुवर्णप्रभास, (१८) विमलकीर्तिनिर्देश, (१९) गण्डव्यूह, (२०) धनव्यूह, (२१) आकाशगर्भ, (२२) अक्षयमीतिनिर्देश, (२३) उपायकौशल्य, (२४) धर्मसंगीति, (२५) सुविक्रान्तविक्रामी, (२६) महाकरूणापुण्डरीक, (२७) रत्नकेतु, (२८) दशभूमिक, (२९) तथागतमहाकरुणानिर्देश, (३०) द्रुमकिन्नरराजपरिपृच्छा, (३१) सर्पगर्भ, (३२) बुद्धभूमि, (३३) तथागताचिन्त्यगृह्यनिर्देश, (३४) सुरंगमनिर्देश, (३५) सागरनागराजपरिपृच्छा, (३६) अजातशत्रुकौकृत्यविनोदन, (३७) संधिनीर्नोचन, (३८) बुद्धसंगीति, (३९) राष्ट्रपालपरिपृच्छा, (४०) सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश, (४१) रत्नचूड़परिपृच्छा, (४२) रत्नकूट, (४३) महायान-प्रसादप्रभावन, (४४) महायानोपदेश, (४५) आर्यब्रह्मविशेषचिन्तापरिपृच्छा, (४६) परमार्थसंवृत्ति-सत्यनिर्देश, (४७) मंजुश्री-विहार, (४८)

महापरिनिर्वाण, (४९) अवैवर्त-चक्र, (५०) कर्मविभंग, (५१) रत्नोल्का, (५२) गोचरपरिशुद्ध, (५३) प्रशान्तविनिश्चयंप्रतिहार्यनिर्देश, (५४) तथागतोत्पत्तिसंभवनिर्देश, (५५) भवसंक्रान्ति, (५६) परमार्थधर्मविजय, (५७) मंजुश्रीबुद्धक्षेत्रगण्डव्यूह, (५८) बोधिपक्ष-निर्देश, (५९) कर्माकरणप्रतिप्रसन्धि, (६०) त्रिस्कन्धक, (६१) सर्ववैदल्यसंग्रह, (६२) संघाटसूत्र, (६३) तथागतज्ञानमुद्रासमाधि, (६४) वज्रमेरुशिखरकुटागारधारणी, (६५) अनवतप्तनागराजपरिपृच्छा, (६६) सर्वबुद्धाविषयावतारज्ञानालोकालंकार, (६७) व्यासपरिपृच्छा, (६८) सुबाहुपरिपृच्छा, (६९) सिंहपरिपृच्छा, (७०) महासास्त्रप्रमर्दन, (७१) उग्रपरिपृच्छा, (७२) श्रद्धावलाधान, (७३) अंगुलीमालिय, (७४) हस्तिकक्ष्य, (७५) अक्षयमति-परिपृच्छा, (७६) महास्मृत्युपस्थान, (७७) शालिस्तम्भ, (७८) मैत्रिव्याकरण, (७९) भैषज्यगुरुवैदुर्यप्रभ, (८०) अर्थविनिश्चय, (८१) ध्वजाग्रकेयूर, (८२) महाबलसूत्र, (८३) वीरदत्त-गृहपतिपरिपृच्छा, (८४) रत्नकरण्डक, (८५) विकुर्ववराजपरिपृच्छा।

इन सब संकलनों के नामोल्लेख होते हुए भी महायान साहित्य की वास्तविक विपुलता चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों एवं तिब्बती यात्रियों एवं इतिहासकारों की कृतियों को देखने से ही विदित होता है।

नञ्जियों के द्वारा संकलित चीनी त्रिपिटक की सूची में सूत्रपिटक के अन्तर्गत ५४ महायानसूत्रों का उल्लेख है। जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है।

१. प्रज्ञापारमिता, २. रत्नकूट, ३. महासन्निपात, ४. अवतंसक, ५. परिनिर्वाण, ६. त्रिविध अनूदितसूत्र, ७. सकृद अनूदितसूत्र

प्रथम वर्ग में प्रज्ञापारमितासूत्र संगृहीत है। द्वितीय भाग में ४९ सूत्र है, जिनमें वृहद् सुखावतीव्यूह भी सम्मिलित है। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत चन्द्रगर्भ, क्षितिगर्भ, आकाशगर्भ आदि सूत्रों का संकलन है। चतुर्थ वर्ग में अवतंसकसूत्र, अनुवाद तथा उनसे सम्बन्धित खण्ड पृथकरूप से प्राप्त होते हैं। पंचम खण्ड में परिनिर्वाण सम्बन्धि अनेक सूत्र हैं। षष्ठ भाग में सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, सुवर्णप्रभाससूत्र हैं एवं सप्तम खण्ड में शूरङ्गम, महावैरोचन आदि सूत्रों का संकलन है।

प्रज्ञापारमिता सूत्र

महायान के वैपुल्य सूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते हैं। प्रथम प्रकार के ग्रन्थों में बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्धयान की महत्ता बतलायी गयी है। इस प्रकार के ग्रन्थों में सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों को रखा गया है। दूसरे में उन ग्रन्थों को रखा गया है, जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त "शून्यता" अथवा "प्रज्ञा" की महत्ता बतायी गयी है। इस प्रकार प्रज्ञापारमितासूत्र ग्रन्थों में एक तरफ महाकरूणा और दूसरी तरफ शून्यता- इन दो प्रकार के सत्यों में समन्वय स्थापित करने का यत्न दिखलाई पड़ता है, जो बाद में बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव के माध्यम से इसी समन्वय का व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। महायान

सम्प्रदाय में प्रज्ञापारमितासूत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हें आगम ग्रन्थ के नाम से भी जाना जाता है। इनकी शैली प्राचीन संवाद शैली है। प्रज्ञापारमिता सूत्रों की रचना का काल भी प्राचीन मालूम होता है। १७९ ई. में प्रज्ञापारमिता सूत्र का चीनी भाषा में रूपान्तर हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि इन सूत्रों का रचना-काल ईसापूर्व ही है। संस्कृत भाषा में निम्नलिखित प्रज्ञापारमितायें उपलब्ध होती हैं- (१) सतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (२) पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (३) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (४) सर्द्धद्विसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता, (५) सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता, (६) वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता, (७) अल्पाक्षराप्रज्ञापारमिता, (८) प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र, इन सूत्रों में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र सबसे प्राचीनतम् हैं।

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता

अष्टसाहस्रिका का प्रज्ञापारमिता सूत्र महायान के उभय (विज्ञानवाद एवं योगाचार) सम्प्रदायों में मूल्यवान तथा बहुसमादृत ग्रन्थ माना जाता है। इसमें कुल ३२ परिवर्त हैं; जिन्हें अध्याय कहते हैं। शैली, रचना विषय-सामग्री सर्वत्र समान नहीं है। कथोपकथन, दार्शनिक विवेचन, ग्रन्थाध्ययन के लाभ आदि का एक विचित्र सम्मिश्रण इसमें पाया जाता है। प्रथम परिवर्त का नाम सर्वाकारज्ञताचर्यापरिवर्त है। गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते हुए भगवान् बुद्ध के द्वारा स्थविर सुभूति को महाप्रज्ञापारमिता का ज्ञान हुआ तथा इन्होंने शारिपुत्र को एक अद्भुत सर्वसंहारी मायावाद एवं अद्वयवाद का उपदेश दिया, जिसमें समस्त सूत्र का सारांश संगृहीत है। परमार्थतः सभी कुछ शून्य है। "प्रज्ञापारमिता" एवं "बोधिसत्त्व" इनका कोई भी वास्तविक अर्थ नहीं है। भावना करने वाला चित्त ही अचित्त एवं स्वयं भास्वर है। निर्विकारता एवं निर्विकल्पता ही अचित्तता है।[१९] कोई भी धर्मप्रज्ञापारमिता तक स्वभाव संयुक्त नहीं है। स्वभाव भी निःस्वभाव है। अविद्यमान धर्मों की विद्यमानता प्रतीति ही अविद्या है। सभी धर्मों का अनुत्पाद और अद्वैत ही सत्य है। अतः सभी धर्मों में अनिश्रय ही प्रज्ञापारमिता का मर्म है।

१. शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र

इस सूत्र में कुल ७२ परिवर्त हैं। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ गृध्रकुट पर्वत पर तथागत की सभा से ही होता है, किन्तु अष्टसाहस्रिका की तुलना में इसमें अतिशयोक्ति का आधिक्य है। अनेक स्थलों में अष्टसाहस्रिका का ही विस्तार हुआ है। कई स्थलों से अष्टसाहस्रिका का कुछ नवीन स्थल भी दृष्टिगोचर होता है।

२. पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र

यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में लुप्त हो चुका है, किन्तु मैत्रेय नाथ ने इसका "सारांश" अभिसमयालंकार में संगृहीत किया था, जिसका बाद में अभिसमयालंकार के अनुसार संशोधित एक संस्करण "पंचविंशति" का प्रस्तुत हुआ था।[२०] यह संशोधित संस्करण अपने मूल

रूप में उपलब्ध है।

३.वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितासूत्र

सम्प्रति यह ग्रन्थ अपने स्वल्पाकार रूप में उपलब्ध है। इसमें कहा गया है- ''योऽसौ तथागतेम धर्मोऽभिसम्बुद्धो देशितः अग्राह्य सोऽनाभिलाप्य न स धर्मोनाधर्म।''[२१]

महायानवैपुल्यसूत्र

महायान सूत्र अनेक हैं, जिनका नामोल्लेख पहले किया जा चुका है। महायान सूत्रों में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका विशेष रूप से आदर है। इनकी संख्या नौ है। नेपाल बौद्धसम्प्रदाय में प्रामाणिक धर्मशास्त्रीय नौ मूल ग्रन्थों का विशेष आदर है और इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इनमें प्रत्येक-ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप में वैपुल्य शास्त्र के नाम से जाना जाता है। यहाँ वैपुल्य का तात्पर्य विस्तार या विस्तृत रूप है। इन ग्रन्थों के लिये वैपुल्य शब्द का प्रयोग ही इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उनके बहुविस्तृत रूप में होने की सूचना देता है। यह उल्लेखनीय है कि नेपाल में ये मूल नौ ग्रंथ विशेष धार्मिक भावना से अभिपूजित हैं। इन ग्रन्थों में भी ग्रन्थार्चन के लिये विशेष आग्रह किया गया है, ये नौ ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता
२. सद्धर्मपुण्डरीक
३. ललित-विस्तर
४. लंकावतार
५. सुवर्ण प्रभास
६. गण्डव्यूह
७. तथागतगुह्यक
८. समाधिराज
९. दशभूमिक या दशभूमीश्वर।

नेपाल में इन्हें नव धर्म के नाम से पुकारते हैं।

१. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र

सद्धर्मपुण्डरीक नेपाली महायान के ९ वैपुल्य सूत्रों में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह चीन और जापान में भी लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ की रचना महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने के पश्चात् हुई है। ''सद्धर्मपुण्डरीक'' नाम के बारे में एम. अनासाकी कहते हैं कि ''पुण्डरीक'' (श्वेत कमल) पवित्रता एवं पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। जैसे पंक में उत्पन्न कमल पंक से अवलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध भी इस लोक में उत्पन्न होकर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं।[२२] यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायान धर्मों में बहुत पवित्र माना जाता है। इसका सम्पादन १९१२ ई. में प्रो० एच० कर्न और नान्जियों ने किया है। चीनी भाषा

में इस मूल ग्रन्थ के छः अनुवाद किये गये हैं, जिसमें सबसे पहला अनुवाद सन् २२३ई. में हुआ। इनमें से केवल तीन अनुवाद ही उपलब्ध है- (१) धर्मरक्ष के द्वारा अनूदित (२८६ ई.), (२) कुमार जीव का, समय (४०० ई.) के आसपास तथा (३) ज्ञान गुप्त एवं धर्मगुप्त का (६०१ ई.) है। चीनी परम्परा के अनुसार इस पर बोधिसत्व वसुबन्धु ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र शास्त्र नाम की टीका लिखी थी, जिसका अनुवाद बोधिरूचि और रत्नमति ने लगभग ५०८ ई. में चीनी भाषा में किया था। चीन और जापान में सद्धर्मपुण्डरीक का कुमार जीव कृत अनुवाद अधिक लोकप्रिय है, जिस पर कई टीकायें लिखी गई हैं। "सद्धर्मपुण्डरीक" के एक अंश का मंगोलियन भाषा में भी अनुवाद उपलब्ध है, जिससे उत्तरी चीन में भी इस ग्रन्थ के विशेष प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है।[२३]

सद्धर्मपुण्डरीक का रचना-काल यद्यपि निश्चित नहीं है, फिर भी ग्रन्थ की मिश्र संस्कृत भाषा, स्तूप-पूजा और बुद्ध-भक्ति आदि का विशेष वर्णन देखकर यह तथ्य प्राप्त होता है कि इस सूत्र की रचना महावस्तु और ललित-विस्तर के बाद, किन्तु ईसा प्रथम शतक में हुई।

इस ग्रन्थ में कुल २७ परिवर्त हैं, जो अध्याय कहलाते हैं। पहले निदान परिवर्त में इसके निर्माण के विषय में कहा गया है कि यह ग्रन्थ वैपुल्च सूत्रराज है।

"वैपुल्यसूत्रराजं परमार्थनयावतारनिर्देशम्।
सद्धर्म पुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये।।"

इसमें नाना प्रकार की कहानियों के द्वारा महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। जिस महायान का रूप इसमें दृष्टिगोचर होता है, वह उसका अवान्तर कालीन लोकप्रिय प्रौढ़ रूप है, जिसमें मूर्ति-पूजा, बुद्ध-पूजा, स्तूप-पूजा आदि का विपुल विधान मान्य है। भित्ति पर बुद्ध की मूर्ति बनाकर यदि कोई एक फूल से भी पूजा करे तो वह करोड़ों बुद्धों का प्रत्यक्षतः दर्शन कर लेता है[२४], यथा-

"पुष्पेण चैकेन पि पूजापित्वा आलेख्यभित्तो सुगतान् विम्बान।"
"विक्षिप्तचिन्ता पि च पूजयित्वा अनुपूर्व प्रक्ष्यन्ति च बुद्धकोट्य।।"

बुद्ध एक अवतारी पुरुष थे उनकी बोधिसत्त्व पूजा किया करते हैं। बुद्ध लोककल्याणार्थ मुक्ति का उपदेश देते हैं। "नमोऽस्तु-बुद्धाय" इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से मूढ़ पुरुष भी उत्तम बोधि का लाभ प्राप्त करता है।[२५] सर्द्धम पुण्डरीक का प्रभाव बौद्ध कला पर भी विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

२. ललित-विस्तर

महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत आने वाले वैपुल्य सूत्रों में ललित-विस्तर का एक विशिष्ट स्थान है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत बुद्ध की एक जीवनी थी, जिसका विस्तृत एवं परिवर्धित रूप ललित-विस्तर के रूप में प्राप्त

होता है। इस संसार में तथागत ने जो क्रीड़ा (ललित-क्रीड़ा) की, उसका इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन होने के कारण इसका नाम "ललित-विस्तर" पड़ा। नन्जियों सूची नं. ६८० के अभिनिष्क्रमण सूत्र में इसे "महा-व्यूह" की भी संज्ञा दी गयी है।

तिब्बती भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद पांचवीं शताब्दी में ही सम्पन्न हो चुका था, परन्तु वर्तमान समय में जो स्वरूप उपलब्ध होता है, उसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १८७५ ई. में हुआ। ललित-विस्तर के कुछ अध्यायों का अनुवाद डॉ. लेफमन के द्वारा सन् १८७५ ई. में वर्लिन से किया गया था। विब्लियोथिका इण्डिका नामक ग्रन्थ माला के लिये डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र ने इस ग्रन्थ का एक अंग्रेजी अनुवाद किया था, परन्तु सन् १८८१ से १८८६ ई. के बीच केवल १५ अध्यायों का ही अनुवाद हो सका। डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र के पूर्व इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण सम्पादन लेफमन महोदय के द्वारा सम्पन्न किया गया था। इसका एक फ्रेन्च अनुवाद फ्राँके महोदय ने एनल द मुसे गिमें (जिल्द ६ एवं १९, पेरिस सन् १८८४-१८९२) में प्रकाशित किया।

ललित-विस्तर सूत्र २७ (सत्ताइस) परिवर्तों में विभक्त है। पहले परिवर्त में यह बतलाया गया है एक रात्रि को भगवान् के समाधिस्थ होने पर उनके उष्णीष-विवर से रश्मि उत्पन्न हुई, जिससे सभी देव-लोक प्रकाशित हो गया और सभी देव उस प्रकाश से क्षुब्ध हो गये। रात्रि व्यतीत होने पर देव समूह जेतवन में उनके समीप आये और प्रार्थना की कि "है भगवन्! ललित-विस्तर नामक धर्म पर्याय का आप व्याकरण करें। तथागत का तुषितलोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, वालचर्या, सर्वमारमण्डल विध्वंसन आदि विषयों का इसमें वर्णन किया गया है। पूर्व तथागतों ने भी इसका व्याकरण किया था।" तथागत ने जन सामान्य के कल्याणार्थ एवं सद्धर्म की वृद्धि के लिए देवपुत्रों की याचना स्वीकार की और भिक्षुओं को आमंत्रित करके अविदूर निदान (तुषित लोक से आगमन से लेकर सम्यक् ज्ञान-प्राप्ति तक का काल "अविदूर निदान कहलाता है।) की कथा से आरम्भ करके बुद्ध चरित का वर्णन सुनाने लगे। बोधिसत्त्व एक महाविमान में तुषितलोक में निवास करते थे। उन्होंने क्षत्रिय-कुल में जन्म लेने का निश्चय किया। भगवान् ने अपने को जन्म देने में समर्थ शाक्यकुलीन शुद्धोधन की पटरानी माया देवी को ही योग्य जानकर देवताओं की सहायता से महानाग कुन्जर के रूप में गर्भावक्रान्ति की। कुक्षिगत बोधिसत्त्व के निवास हेतु देवताओं ने एक रत्नव्यूह तैयार किया जिससे बोधिसत्व को मनुष्याश्रय में निवास न करना पड़े। यह रत्नव्यूह आकृति और वर्ण में अद्वितीय था, जिस में बैठे हुए बोधिसत्त्व अत्यधिक शोभित थे। जब से तथागत ने मायादेवी की कुक्षि में स्थान ग्रहण किया, उसी समय से मायादेवी भी अनेक उद्भुत गुणों से युक्त हो गई। यहाँ तक कि उनके दर्शन मात्र से ही बड़े-बड़े दुःखों का नाश हो जाता था। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं था। सभी जीव-जन्तु परस्पर द्वेषभाव छोड़कर प्रेमपूर्वक रहते थे। सम्पूर्ण नगर धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। कोई दुःखी एवं दरिद्र नहीं रहा। दस माह व्यतीत होने पर लुम्बिनी नामक स्थान पर तथागत का जन्म शुभ मुहूर्त्त एवं शिष्ट नक्षत्रों से युक्त समय में हुआ।

जन्म के समय भी अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ घटी। जन्म लेते ही बुद्ध सात पग चले और उन्होंने कहा कि ''मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जाति, जरा और मरण का अन्त करूँगा। मैं सब सत्त्वों में श्रेष्ठ हूँ सभी सेनाओं के सहित मारधर्षण करूँगा।''

सप्तम परिवर्त में तथागत के जन्म का वर्णन है। इसके साथ ही विभिन्न आश्चर्यजनक क्रियाओं का भी वर्णन है। इसी परिवर्त में बुद्ध और आनन्द का वार्तालाप, असित का आगमन और उनके विषय में भविष्य वाणी का भी विवेचन प्राप्त होता है। आठवें परिवर्त में बुद्ध को देवालय ले जाया जाता है, जहाँ की देवमूर्तियाँ उनके मन्दिर में प्रवेश करते ही स्तुति करने के लिए खड़ी हो जाती हैं। नवें में उनके विविध अलंकरणों का विवेचन है। दशम में बोधिसत्त्व विद्यालय जाते हैं, यद्यपि उन्हें सभी वर्णमाला एवं लिपियों का ज्ञान पहले से ही है। ग्यारहवें परिवर्त में वे अपनी सम्पत्ति का निरीक्षण करते हैं। द्वादश परिवर्त में उनका विवाह यशोधरा से सम्पन्न होता है। त्रयोदश में देवताओं द्वारा उनसे सांसारिक जीवन और भोगों का त्याग करने के लिए प्रार्थना की गई है। चौदहवें परिवर्त में चार पूर्व निमित्त वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्ण तथा सन्यासावस्था का वर्णन हुआ है। पन्द्रहवें में उनका महाभिनिष्क्रमण तथा गृह-त्याग बतलाया गया है। षोडश में बोधिसत्त्व सत्य का अन्वेक्षण करते हैं, तथा बिम्बिसार उन्हें अपना राज्य अर्पित करना चाहते हैं। सप्तदश परिवर्त में उनकी उग्रतपस्या का वर्णन है। अष्टादश में नैरंजना नामक स्थान पर उनकी तपस्या एवं सुजाता द्वारा पायस अर्पण की कथा का वर्णन है। उन्नीसवें एवं बीसवें परिवर्तों में वे ''बोधिमण्ड'' जाते हैं। इक्कीसवें में कामदेव से संघर्ष एवं मार दुहिताओं द्वारा उन्हें आकर्षित किया जाना, बाइसवें में उन्हें प्रकाशदर्शन एवं उच्चतम सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। तेइसवें में देवगण बोधि के पश्चात् उनकी प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे लोकानुग्रह हेतु अपने नवीन धर्म का उपदेश करें। चौबीसवें एवं पच्चीसवें में भगवान् बुद्ध पुनर्विचार के पश्चात् अपने धर्म का उपदेश करने का निश्चय करते हैं। छब्बीसवें परिवर्त में वे अपने सद्धर्म का उपदेश पाँच भिक्षुओं को सारनाथ में देते हैं। अन्तिम परिवर्त में ग्रन्थ की महिमा का वर्णन करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

ललित विस्तर का अन्तिम संस्करण कब हुआ, यह अभी तक निर्धारित नहीं हो सका है। पहले यह धारणा थी कि ललित-विस्तर का चीनी भाषा में अनुवाद ईसा की पहली शताब्दी में हुआ था। संस्कृत ''ललित-विस्तर'' का शुद्ध तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, जिसका समय पाँचवीं शताब्दी है। फ्रांके ने इसका सम्पादन फ्रेन्च अनुवाद के साथ किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन रूपकारों ने (ई. ८५०-९००) जावा स्थित वोरो बदूर के मंदिर को जिन प्रतिमाओं से सुशोभित किया था वे ललित विस्तर के किसी न किसी पाठ से अवश्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार से चित्रित किया गया है मानों शिल्पी ललित-विस्तर को हाथ में लेकर इस कार्य का सम्पादन किया था। जिन शिल्पकारों ने उत्तरी भारत में बौद्ध-युनानी कला वस्तुओं को बुद्ध चरित के दृश्यों

से सुशोभित किया था, वे भी ललित-विस्तर में वर्णित बुद्ध-कथा से परिचित थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बुद्ध-कथा ललित-विस्तर में पुरानी परम्परा के अनुसार वर्णित है। इसके साथ ही साथ कई शताब्दी पीछे की घटनाओं एवं कथाओं का भी सन्निवेश है। अत: यह तथ्यत: सत्य प्रतीत होता है कि ललित-विस्तर से बुद्ध-कथा के विकास का इतिहास जाना जा सकता है। साहित्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। ललित-विस्तर में सुरक्षित गाथा और उसके कथांशों के आधार पर ही अश्वघोष ने बुद्ध-चरित नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की।

३. लंकावतारसूत्र

लंकावतार महायान के विज्ञानवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला मौलिक ग्रन्थ है। विज्ञान ही सत्य है, विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है, यही विज्ञानवाद की मान्यता है। लंकावतार सूत्र के चीनी भाषा में तीन अनुवाद हुए हैं। प्रथम अनुवाद गुणभद्र ने सन् ४४३ ई. में किया। द्वितीय बोधिरूचि ने ५१३ ई. में तथा तीसरा ७००-७०४ ई. में शिक्षानन्द ने किया, जो इस समय उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का सम्पादन शिक्षानन्द ने किया, जो इस समय उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का सम्पादन "बुनपिठनंजियों ने क्योटो, जापान से १९२३ ई. में किया है। लंकावतार सूत्र का अर्थ है, रावण-पालित लंका में जाकर सद्धर्म का उपदेश। इसमें कुल १० परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद में राक्षसाधिपति रावण का बुद्ध से सम्भाषण है। द्वितीय अध्याय में महामति ने भगवान् से १०० प्रश्न पूछा है। ये सभी प्रश्न विज्ञानवाद से सम्बन्धित हैं। निर्वाण, संसार, बंधन, मुक्ति, आलय-विज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयों के विषय में तथा चक्रवर्ती, माण्डलिक, शाक्यवंश आदि के बारे में भी ये प्रश्न हैं। तृतीय परिवर्त में यह बात बतलाई गई है कि तथागत ने सम्बोधि प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण की प्राप्ति तक स्वयं कुछ भी नहीं कहा था। यह भगवान् के उपदेश का लोकोत्तर प्रभाव है। इसके अतिरिक्त इस परिवर्त में ही यह उल्लिखित है कि बुद्ध के अनेक नाम हैं। कोई तथागत, कोई स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक्र, इन्द्र, वलि, वरूण आदि नामों से जाना जाता है। उन्हें ही अनिरोधानुत्पाद, शून्यता, सत्य, धर्म धातु और निर्वाण ये संज्ञाएँ दी गई हैं। दूसरे से सातवें अध्याय तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म सिद्धान्तों की चर्चा है। अष्टम परिवर्त में मांसासन का निषेध है, परन्तु हीनयान में इसका विधान है। इसका प्रथम दर्शन हमें लंकावतार सूत्र में ही प्राप्त होता है। नवम परिवर्त में अनेक धारणियों का वर्णन है। अन्तिम परिवर्त में ८८४ श्लोकों में विज्ञानवाद की विस्तृत चर्चा है, जो परवर्ती दार्शनिक विज्ञानवाद के लिए भित्ति स्वरूप है। दशम परिवर्त में ही कुछ स्थानों पर भविष्य के विषय में भी कथन है। भगवान् के शब्दों में- "मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् व्यास, कणाद, ऋषम, कपिल आदि उत्पन्न होंगे। निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् व्यास, कौरव, पाण्डव, राम और चन्द्रगुप्त (मौर्य) होंगे। तत्पश्चात् नन्दगुप्त राज्य करेंगे। इसके बाद म्लेच्छों का राज्य होगा और इसी समय

से कलयुग का भी प्रारम्भ होगा। एक स्थान पर पाणिनि, अक्षपाद, वृहस्पति, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, कौटिल्य और आश्वलायन आदि ऋषियों के बारे में व्याकरण है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण एक समय में नहीं हुआ। विज्ञानवाद सम्बन्धी भाग योगाचार के संस्थापक मैत्रेयनाथ के काल अर्थात् चौथी शती का, तथा दशवाँ परिवर्त बाद का अर्थात् गुप्त काल का है।

४. सुवर्ण प्रभास सूत्र

महायान सूत्र साहित्यों में इस ग्रन्थ का अपना एक विशिष्ट स्थान है। सौभाग्य से इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल रूप भी उपलब्ध है और जापानी विद्वान् नञ्जियों ने नागरी अक्षरों में छापकर प्रकाशित किया है।[२६] सुवर्ण प्रभास सूत्र की ख्याति चीन तथा तिब्बत में अधिक है, जिसके फलस्वरूप इसके अनेक अनुवाद हुए हैं। चीनी भाषा में धर्मरक्ष के द्वारा ४१२ से ४२६ ई. में अनुवाद हुआ, जो सबसे प्राचीन है। इसमें केवल १८ परिच्छेद हैं। दूसरा परमार्थ के द्वारा ५४८ ई. में हुआ, जिसमें २२ परिच्छेद है। यह आजकल अनुपलब्ध है। तृतीय अनुवाद यशोगुप्त के द्वारा षष्ठ शतक में २२ परिच्छेदों में हुआ है। यह भी अनुपलब्ध है। चतुर्थ पावो क्युई के द्वारा ५९७ ई. में किया गया, जिसमें प्राचीन अनुवादों का नवीन संस्करण दो नवीन परिच्छेदों के साथ किया गया है। इत्सिंग ने ७३० ई. में इसी ग्रन्थ का अनुवाद ३१ परिच्छेदों में किया। यह अनुवाद उस ग्रन्थ का है, जिसे इत्सिंग अपने साथ भारत से चीन ले गये थे। तिब्बत में भी इस ग्रन्थ की काफी प्रसिद्धि थी। मंगोलिया देश की भाषा में भी इत्सिंग के चीनी अनुवाद से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया है।[२७] पूर्वी तुर्कीस्तान से भी मूलग्रन्थ के अनेक अंश यत्र-तत्र उपलब्ध हुए हैं। अतः सुवर्ण प्रभास ने अपनी प्रभा से अनेक देशों को आलोकित किया।

सुवर्ण प्रभास में भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है। दर्शन, नीति, तन्त्र, आचार एवं उपाख्यान के वर्णन इस ग्रन्थ के विषय-वस्तु हैं। इसका सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय के भिन्न-भिन्न मूल ग्रन्थों से है। इस ग्रन्थ में कुल २१ परिवर्त हैं। प्रारम्भ के छः परिवर्त महायान सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसमें तथागत के आयु परिमाण, पाप-देशना, शून्यता का विस्तृत विवेचन है। पिछले परिवर्तो में बुद्ध की पूजा-अर्चना से प्राप्त होने वाले फलों का वर्णन है। धर्मरक्ष के द्वारा अनूदित ग्रन्थ इसके मूल संस्कृत ग्रन्थ से काफी मिलता-जुलता है। इस सूत्र का प्रमुख उद्देश्य महायान के धार्मिक सिद्धान्तों का सरल रूप में प्रतिपादन करना है। इस पर सद्धर्म-पुण्डरीक एवं प्रज्ञापारमिताओं का प्रभाव स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। जापान में इस ग्रन्थ का विशेष महत्व है, जिससे वहाँ के प्रत्येक मन्दिर में इस ग्रन्थ की एक प्रति रखी गई है। वर्तमान समय में जापानी बौद्धधर्म के रूप निर्धारण में इस ग्रन्थ का विशेष महत्व है।

५. गण्डव्यूह

चीन तथा तिब्बत के त्रिपिटकों में ''बुद्धावतंसक'' सूत्रों का उल्लेख महासूत्रों की सूची में प्राप्त होता है। इसी सूत्र के आधार पर चीन में ५५७ से ५८९ ई. में ''अवतंसक'' मत की उत्पत्ति हुई। जापान के ''केनन'' सम्प्रदाय का यह मूल सूत्र है। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता। ''शिक्षा समुच्चय'' में इस ग्रन्थ के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस सूत्र के अन्त में ''भद्रचारी प्रणिधान गाथा'' नामक ६३ दोधक वृत्तों में एक मनोरम स्तुति उपलब्ध होती है, जिसमें महायान के सिद्धान्तों के अनुसार बुद्ध की अभिराम स्तुति की गई है। यह नेपाली बौद्ध धर्म के नौ धर्मो में से एक है और इस रूप में यह संसार भर में महायान बौद्धों का समादृत ग्रन्थ है। इसका विषय है सुधन नामक सार्थवाहपुत्र का बुद्धता या बोधिसत्त्वता की प्राप्ति के लिए आचार-मार्ग की खोज।

६. समाधि राज

समाधिराज सूत्र अन्य सूत्र ग्रन्थों में विशेष महत्व रखता है। इसका दूसरा नाम ''चन्द्रप्रदीप'' सूत्र भी है। उच्चतम चारित्रिक एवं दार्शनिक उपदेशों के समावेश से इस ग्रन्थ को महायान में बहुत आदर मिला है। इसमें सर्वधर्म समता का सर्वप्रथम अनुवाद कदाचित् ''अन् शिकाओ'' ने १४८ ई. में किया था। इसमें तीन संगीतियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में महायान के योगाचार की अनेक समाधियों का उल्लेख है। इसमें कुल ४० परिवर्त हैं। अनुमानतः इसका मूलरूप पद्यमय था। इसका गद्य भाग बाद में जोड़ा गया। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय समाधि, चित्त-समाधि या सर्वधर्मों की समानता पर आधारित शून्यता का प्रतिपादन है।

७. दश भूमीश्वर

इसे दशभूमिक के नाम से भी जाना जाता है। इस सूत्र का विषय बुद्धत्व तक पहुँचने के लिए दस भूमियों का क्रमिक वर्णन है। ''बोधि सत्त्व वज्रगर्भ'' ने इन दस भूमियों का विस्तृत वर्णन किया है। यह गद्यमयी शैली में है, परन्तु प्रथम परिच्छेद में संस्कृतमयी गाथाएँ भी हैं। ये दस भूमियाँ महायान में अपना विशेष महत्व रखती हैं। इसी विषय को लेकर आचार्यों ने भी नये-नये ग्रन्थों की रचना की है।

चीनी भाषा में इसके चार अनुवाद प्राप्त होते हैं, जिसमें सबसे प्राचीन अनुवाद धर्मरक्ष का २९७ ई. में किया हुआ है। इसके अतिरिक्त ''कुमार जीव'' ने ४०६ ई., बोधिरूचि ने ५००-५१६ ई. और शीलधर्म ने ७८९ ई. में चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया। नागार्जुन ने इसके एक अंश पर ''दशभूमिकविभाषाशास्त्र'' नामक व्याख्या लिखी थी, जिसका भी अनुवाद चीनी भाषा में धर्मरक्ष ने किया था। इसमें प्रारम्भ की केवल दो भूमियों का ही वर्णन प्राप्त होता है।

''महायानसूत्र साहित्य का अध्ययन उसके उद्भव एवं विकास'' एक विस्तृत विषय

है, जिसके सम्पूर्ण अध्ययन के लिए विशाल बौद्ध साहित्य का अवलोकन करना अति आवश्यक है। अतः उस कार्य हेतु बहुत समय एवं सतत अध्ययन की आवश्यकता है। मैंने सीमित समय एवं क्षेत्र में इस ओर एक प्रयास किया है। अतः सम्भव है, इस विषय में कुछ त्रुटियाँ हो गई हों तथा कुछ महत्वपूर्ण सन्दर्भों को छोड़ दिया हो, परन्तु मैंने अपनी ओर से इस विषय से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री देने का प्रयास किया है। कहाँ तक मैं अपने इस प्रयास में सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय विद्वज्जन ही करेंगे।



1 – बुद्ध, गोविन्दनगर (मथुरा), कुषाणकाल

सन्दर्भ-सूची

१. अंग्रेजी अनुवाद, मसूदा कृत, एशिया मेजर, २, १९२५, पृष्ठ १-७८.
२. द्र. दत्त, नलिनाक्ष- महायान, पृ. ३२३ पाद- टिप्पणी।
३. लामातत्रेत्रेते, भूमिका पृ. १०; तु. विण्टरनित्ज, जि. २, पृ. ३४२-४८.
४. महापरिनिब्बानतुत्त, दीघनिकाय, भा. २,
५. तु. -- बिधु शेखर भट्टाचार्य, वेसिक कन्सेप्सन ऑव बुद्धिज्म, तु.-- बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ. ४४०-४४१, "जिसके अनुसार हीनयान से मूल वासना का क्षय सम्भव नहीं है।"
६. द्र. बो. ध. के वि. का इतिहास - डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृ.-३१६.
७. वारो, ले सेक्त पृ. ५७ प्र. १, द्र. - बो.ध.वि. इतिहास, पृ. ३१६-३१७
८. डिवेट्स कमेन्ट्री, पृ. २११, उपाध्याय द्वारा उद्धृत - बो.ध.वि. इतिहास, पृ. ३१६-३१७
९. दत्त- महायान, पृ. २६, वारो ले सेक्स, पृ. २९६; द्र. - उपाध्याय - बो. ध. के वि. इ.।
१०. वारो, पूर्वोद्धृत - १०८१, प्र. सोगेन, सिस्टम ऑव बुद्धिस्ट थाट, पृ. १७२, प्र.
११.अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ. २२५-२६
१२. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री, पृ. ३७३
१३. वारो, ले. सेक्स, पृ. २९६
१४. ला, द वेट्स कमेन्ट्री, भू. पृ. ६, जे. आर. एस. १९०७; एवं शान्ति भिक्षु महायान, पृ. १०
१५. ललित विस्तर "तद्भिक्षवो में श्रृणुतेह सर्वे वैपुल्य सूत्रं हि महानिदानम्। १-१३ तुलनीय - वैद्य, ललित. वि., मू., पृ. ११
१६. जोन्स (अनुवाद) महावस्तु, जि. १, पृ. ११२-५१ सेन्सर (सं.) महावस्तु, जि. १, पृ. १४२-९३
१७. ललित-विस्तर ० पी.एल. वैद्य द्वारा सम्पादित, १९५८.
१८. ललित-विस्तर, पृ. १८१-१८४
१९. अष्ट., पृ. ४-६, शत. पृ. ४९५
२०. हरिभद्र अथवा सिंहभद्र, के द्वारा धर्मपाल के समय में-- द्र. -- तारानाथ, पृ. २१९, तु. -- बुदोन जि. २, पृ. १५०-६०
२१. गिलगित मैनुस्क्रिप्टस जि. ४, पृ. १४६
२२. बुद्ध ग्रन्थावली (सं. १४, १९११) में मूल और जर्मन टिप्पणियों के साथ प्रकाशित।
२३. बुद्ध ग्रन्थावली (सं. १४, १९११) में मूल और जर्मन टिप्पणियों के साथ प्रकाशित।
२४. सद्धर्मपुण्डरीक, २-९६
२५. वही
२६. नन्जियो का नागरी संस्करण, क्योटो (जापान) से १९३१ ई. में प्रकाशित।
२७. लेलिनग्राड (रूस) की बुद्ध-ग्रन्थावली, ग्रन्थ संख्या १७, में प्रकाशित हुई है।

प्रथम खण्ड

ललित-विस्तर: वर्ण्य विषय

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, ललित-विस्तर पहले हीनयान सम्प्रदाय के अन्तर्गत सर्वास्तिवादी निकाय का ग्रन्थ था। इसका अलंकृत, परिष्कृत और परिवर्तित रूप ललित-विस्तर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। हीनयान सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हुए भी इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे तत्वों का समावेश हो गया, जिसके कारण वर्तमान समय में यह ग्रन्थ महायानियों में विशेष लोकप्रिय है तथा यह महायान वैपुल्य सूत्रों में बहुत पवित्र माना जाता है। इसकी गणना नेपाल में पूजित नौ वैपुल्य सूत्रों में की जाती है। जिन ग्रन्थों की नेपाल में पूजा की जाती है तथा आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, उनमें इसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

ललित विस्तर में भगवान् बुद्ध के जीवन वृत्तान्त को एक लोकोत्तर जीव के रूप में अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों के द्वारा अलंकृत भाषा में चित्रित किया गया है। सत्ताईस परिवर्तो में विभक्त ललित-विस्तर महायान सम्प्रदाय का एक रमणीय ग्रन्थ है। प्रत्येक परिवर्त में दो भाग हैं- पद्य भाग एवं गद्य भाग। ललित-विस्तर की परम्परा में पद्य भाग स्मृत मूल रूप है। गद्य में जो कुछ कहा गया है, उसके प्रमाण में ही पद्य ग्रन्थ को उद्धृत किया गया है। इस स्थिति में जो कुछ पद्य ग्रन्थ में हैं, उसकी ही विस्तार के साथ-साथ ग्रन्थ में पुनरूक्ति होना स्वाभाविक है। ग्रन्थ का मूल वस्तुतः गाथाएँ ही हैं। ललित-विस्तर के प्रत्येक अध्यायों को ''परिवर्त'' की संज्ञा दी गई है।

ललित-विस्तर में कुल सत्ताईस परिवर्त हैं, जिनमें सम्पूर्ण कथावस्तु समाविष्ट है। परिवर्त क्रम में ललित-विस्तर का वर्ण्य विषय इस प्रकार है-

१. निदान परिवर्त

निदान नामक परिवर्त की कथा का प्रारम्भ पालि परम्परा में प्राप्त कथा के समान ही होता है। पालि परम्परा में कथा का प्रारम्भ इस प्रकार होता है- ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् श्रावस्ती में विहरते थे। ललित-विस्तर की भी कथा का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों में होता है- ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् श्रावस्ती में विहरते थे। उनके साथ जेतवन में अनाथ पिण्डक के आराम में बारह सहस्र भिक्षुओं का महान संघ था। उन बारह सहस्र भिक्षुओं में- आयुष्मान् अज्ञात कौण्डिन्य, आयुष्मान् अश्वजित, आयुष्मान वाष्प, आयुष्मान् महानाम, आयुष्मान् भद्रिक, आयुष्मान् यशोद, आयुष्मान् विमल, श्रायुष्मान् सुबाहु, आयुष्मान् पूर्ण, आयुष्मान् शारिपुत्र, आयुष्मान् महामौदगल्यायन, आयुष्मान् महाकाश्यप, आयुष्मान्

महाकात्यायन, आयुष्मान् चुन्द, आयुष्मान् अनिरुद्ध, आयुष्मान् सुभूति, आयुष्मान रेवत, आयुष्मान् नन्द, आयुष्मान् राहुल तथा आयुष्मान आनन्द आदि प्रमुख थे।[1] इनके साथ में बत्तीस सहस्र बोधिसत्त्व, जो केवल एक ही जन्म से बंधे थे।

इस प्रकार भगवान् श्रावस्ती नगरी को आश्रय करके विहार करते थे। उनकी सेवा में चार परिषदें थीं। वे हैं- राजाओं की, राजकुमारों की, राजाओं के मंत्रियों की, राजाओं के महामात्रों की, राजा के चरण मूल में रहने वाले, ब्राह्मण, क्षत्रिय, अमात्य तथा परिचारकों की, नागरिकों एवं ग्रामीणों की, अन्य मतानुगामी श्रमण, ब्राह्मण, चरक, परिव्राजकों की मंडली से घिरे रहते थे।[2] भगवान् के पास सम्पूर्ण ऐशवर्य विद्यमान था, परन्तु वे जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रूप से रहते थे। भगवान् की उदार कीर्ति, उदार नाम, उदार यश लोक में सर्वश्रेष्ठ एवं उन्नत था।

उस समय एक बार भगवान् को अर्धरात्रि में बुद्धालंकारव्यूह नामक समाधि लग गई। उसी समय भगवान् के मस्तक के ऊपर उष्णीषविवर के भीतर से ''पूर्वबुद्धानुस्मृति-असंग ज्ञानालोक-अलंकार'' नाम की एक किरण निकली।[3] उसने शुद्धावास देवलोकों को प्रकाशमान किया तथा देवताओं को आश्चर्यचकित कर दिया। तथागत के किरण जाल से देवताओं के प्रति उनका आश्रय ग्रहण करने से सम्बन्धी गाथाएँ निकलीं। सभी देवगण उस ''बुद्धानुस्मृति-असंगज्ञानालोक'' नामक किरण का स्पर्श पाने के साथ-साथ बुद्ध के समीप जाने की प्रेरणा प्राप्त की। प्रातः काल सब देवगण एवं देव-पुत्र जेतवन, जहाँ भगवान् थे वहाँ पहुँच कर भगवान के चरणों में शिर से वन्दना करके एक ओर एकत्रित हो गये।

एक ओर ठहरे हुए शुद्धवासकायिक देवपुत्रों ने भगवान् से यह प्रार्थना की कि हे भगवान्! ललित विस्तर नामक धर्मपर्याय, महावैपुल्य संग्रहभूत सूत्रान्त है, जो बोधिसत्त्वों के कुशल मंगल का उपदेश करने वाले, भगवान् के तुषित् लोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, बाल चर्या, मार विजय, सभी विद्याओं, कलाओं एवं असाधारण धर्मों के संग्रह से युक्त वर्णन वाला, जिसका (ललित-विस्तर का) पूर्व युग में तथागतों ने प्रवचन किया था, उसका बहुजनों के हित के लिए, लोगों के सुख के लिए, लोकानुग्रह के लिए, देवताओं तथा मनुष्यों के प्रयोजन सिद्धि के लिए प्रवचन करें।[4] देवगणों की इस प्रकार से प्रार्थना किए जाने पर तथागत ने तूष्णीभाव (मौनभाव) से उनकी प्रार्थना स्वीकार की। तदनन्तर देवताओं ने पुष्प की वर्षा की। इसके पश्चात् महानिदान (महत्वपूर्ण विषय वाले) वैपुल्य सूत्र का सर्वजन सुखाय, एवं हिताय जो प्रवचन पूर्व में किया गया था उसे यहाँ पर सुनो।[5]

२. समुत्साह परिवर्त

इस परिवर्त में देवगण यह प्रार्थना करते हुए दिखलाई पड़ते हैं कि भगवान्! विपुल पुण्यों के समूह, स्मृति, गति, मति में असीम, प्रज्ञा के प्रभाकर अनुपमेय बल वाले, पराक्रम वाले, अपनी भविष्यवाणी का स्मरण करो। हे विपुल तथा निर्मल मन वाले, तीनों मलों से रहित, शान्त हुए मन तथा दोष वाले, पवित्र. शुद्ध चित्त वाले पहले जैसी दानचर्या

तुमने की है, उसका स्मरण करो।[६] हे कुल के कुलीन, खर्वखर्व कोटि कल्पों में जिस शान्तसमाधि, शीलव्रत, क्षमा तथा दम, वीर्य, बल, ध्यान एवं प्रज्ञा का भलीभाँति सेवन किया है, उसका स्मरण करो।[७] हे अनन्त कीर्तिवाले, सत्त्वों पर कृपा करते हुए तुमने जिन खर्व-खर्व कोटि बुद्धों की पूजा की है, उसका स्मरण करो। इस समय उपेक्षा मत करो।[८]

हे एक शरीर से दूसरे शरीर में अवतार लेने की विधि को जानने वाले, जाति, जरा एवं मृत्यु को नष्ट करने वाले, राग-द्वेष से रहित, बहुत से देव, असुर, नाग, यक्ष तथा गन्धर्व तुम्हारे अवतार की प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए अवतार लो, अवतार लो। उनकी इच्छा कल्प-सहस्र जन्मों तक भोग-विलास में रमकर, समुद्र के पानी पीने की भाँति तृप्त नहीं होती। उत्तमता के साथ प्रज्ञा के द्वारा तृप्त हो जाओ तथा चिरकाल से पिपासाकुल जनता को तृप्त करो। हे निर्मल कीर्ति वाले, धर्म की रति में रमे हुए निर्मल नेत्रों वाले देवताओं सहित लोक पर अनुकम्पा करो।[९] अपने धर्म को सुनाकर अतृप्त देवताओं को तृप्त करने हेतु तुम पुनः आठ प्रकार के असमय यथा- नरक योनि, प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष देव योनि, मिथ्या दृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता की अवस्था को प्राप्त हुए दुर्गति में पड़े हुए सत्त्वों को देखो।[१०]

इसके अतिरिक्त हे शोभा वाले, तुम्हारी पवित्र शोभा से पवित्र तुषित भवन सुशोभित हो रहा है। अब पुनः हे दयालु हृदय वाले जम्बू की ध्वजा वाले द्वीप में धर्म की वर्षा करो। हे नाथ! तुमने मार के कर्मो का हनन किया है, बोधि तुम्हारी हथेली में आई हुई-सी है, यह समय है, इस समय की उपेक्षा मत करो। क्लेश की आग में जलते हुए जगत में, हे नरश्रेष्ठ! तुम मेघ की भाँति व्याप्त हो कर धर्मरूपी अमृत की वर्षा करके मनुष्यों एवं देवताओं के क्लेशों को शान्त करो।[११] हे वैद्योत्तम! तुम तीन विमोक्ष अर्थात् अभ्यन्तर अशुचि-दर्शन, बाह्य अशुचि-दर्शन तथा बाह्याभ्यन्तर अशुचि दर्शन रूपी भैषज्य के योगों से चिर काल से पीड़ित प्राणियों को निर्वाण के सुख में शीघ्र स्थापित करो। संसार के परपन्थी श्रृंगालों को त्रस्त करो, मार पर विजय प्राप्त करो। हे उत्तम यशवाले, शोभन मति वाले, कुल के कुलीन जहाँ रहकर बोधिसत्त्व चर्या दिखलाओगे, उसमें उठे हुए कुल के रत्न को विशेष रूप से देखो। हे मणिरत्न के समान निर्मल बुद्धि वाले यहाँ जिस पात्र में मणिरत्न टिकता है अर्थात् शोभा युक्त होता है, उस धर्म की जम्बू की ध्वजा वाले भारतवर्ष में वर्षा करो। यह बोधि पाने का समय है. उपेक्षा मत करो।[१२]

३. कुलशुद्धि परिवर्त

बोधिसत्त्व एक महाविमान में तुषित लोक में निवास करते थे। इस प्रकार धर्मकाल की देवताओं से प्रेरणा पाकर बोधिसत्त्व उस महाविमान से निकले और धर्मोच्चय नाम का महाप्रासाद, जहाँ बैठकर बोधिसत्त्व तुषित देवताओं को धर्म की देशना किया करते थे, आरुढ़ होकर सुधर्म नामक सिंहासन पर विराजमान हुए।[१३] इसके पश्चात् बोधिसत्त्व के समान शील वाले समान पन्थ पर चलने वाले देव पुत्र भी उसी प्रासाद पर चढ़कर

यथा योग्य अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे। उस सभा में इस प्रकार की चर्चा फैल गयी कि बारह वर्षों में बोधिसत्त्व माता की कोख में पदार्पण करेंगे।[१४] बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति इस प्रकार की होती है वे महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त होते हैं। जिन लक्षणों से युक्त होने वाले की दो ही गतियाँ होती हैं, तीसरी नहीं।

प्रथम – यदि वह गृहस्थ होकर रहता है, तो चतुरंगिणी सेना से युक्त, धर्म से जीते हुए राष्ट्र वाला, धार्मिक, धर्मराज, सत रत्नों (च्रकरत्न, हस्तिरत्न, अभूवरत्न, स्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न तथा अमात्यरत्न) से युक्त चक्रवर्ती राजा होकर सागर पर्यन्त महापृथ्वी को बिना दण्ड, बिना शस्त्र, धर्म के द्वारा जीतकर राज्य को सुस्थिर कर देता है[१४]

द्वितीय – यदि वह घर त्याग कर प्रव्रजित होगा तो बुद्ध होगा, इच्छानुराग को त्यागने वाला, दूसरों को सत्पथ पर ले जाने वाला, अपने-आप-अपना मार्ग बनाने वाला, अपने बनाये हुए मार्ग पर चलने वाला देवताओं और मनुष्यों का उपदेशक होगा। इस प्रकार के बोधिसत्त्व अब से बारहवें वर्ष माँ की कोख में प्रवेश करेंगे।[१५]

इस प्रकार की देववाणी को वाराणसी के मृगदाव (मृगारण्य) में जो बाद में ऋषिपत्तन कहलाया, पाँच सौ प्रत्येक बुद्धों ने विहार करते हुए सुना और उस शब्द को सुनकर आकाश में उठकर अग्नि तत्त्व को प्राप्त कर उल्का (मशाल) की भाँति परिनिर्वृत्त हो गये। केवल शुद्ध शरीर (धातु) ही धरती पर गिरे। यहाँ ऋषि गिरे, इस कारण से उस समय से लेकर ''ऋषिपतन'' यह नाम चल पड़ा। अभयदान पाकर यहाँ पर मृग बसते हैं, अत: इसका ''मृगदाव'' यह नाम चल पड़ा।[१६]

कुलशुद्धि परिवर्त में भगवान् बुद्ध के अवतरण हेतु देवताओं ने नाना राजकुलों (वैदेही कुल, कौशल कुल, वत्सराज कुल, महानगरी वैशाली, प्रद्योत कुल, मथुरानगरी पाण्डवकुल, मिथिला नगरी आदि) के सोलह महाजनपदों में जो भी ऊँचे-ऊँचे राजकुल थे, उन सबको देखते हुए सबको दोष युक्त देखा[१७], पर निर्णय न हो सका। तत्पश्चात् सभी देवगण बोधिसत्त्व के पास जाकर जन्म के लिए उचित कुल, क्षेत्र, माता-पिता के सम्बन्ध में प्रार्थना की। तब बोधिसत्त्व उस महान बोधिसत्त्वों के संघ तथा देवताओं के संघ को देखकर यह बोले हे मार्षो बोधिसत्त्व, जो अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले होते हैं, वे चौंसठ प्रकार से सम्पन्न कुल में उत्पन्न होते हैं। वे ये हैं- अभिजातकुल, अभिज्ञातकुल, अक्षुद्रकुल, अलुब्ध-कुल-शीलवान कुल आदि।[१८]

हे मार्षो वह स्त्री बत्तीस प्रकार के गुणों से युक्त होती है, जिसकी कोख में अन्तिम बार जन्म ग्रहण करने वाले बोधिसत्त्व का प्रवेश होता है।[१९] तब वे बोधिसत्त्व तथा वे देवपुत्र बोधिसत्त्व के पास इस प्रकार की कुल परिशुद्ध तथा मातृ परिशुद्धि पर काफी विचार-विमर्श के पश्चात् जम्बूदीप के शाक्य कुल को दोष रहित देखा तथा शुद्धोधन को सभी राजाओं में श्रेष्ठ एवं बोधिसत्त्व के पिता होने योग्य तथा सब गुणों से सम्पन्न देखा। इसके पश्चात् शुद्धोधन की पटरानी माया देवी ही एक ऐसी पवित्र, श्रेष्ठ गुणों से युक्त बोधिसत्त्व को

जनने में सामर्थ्यशील स्त्री है, ऐसा विचार करके शाक्य कुल की रमणीय नगरी कपिलवस्तु में माया-देवी बोधिसत्त्व की माँ होने के योग्य हैं, ऐसा निर्णय किया गया।[२०]

४. धर्मालोक मुख परिवर्त

बोधिसत्त्व ने जन्म-ग्रहण करने योग्य कुल का विशेष रूप से अवलोकन करके तुषित लोक के "उच्चध्वज" नामक महाविमान, जिस पर बैठकर वे तुषित-देवताओं को धर्म का उपदेश दिया करते थे, पर विराजमान हुए तथा सब तुषित-कायिक देव पुत्रों को एकत्रित होने के लिए कहा। तत्पश्चात् बोधिसत्त्व ने अवतार विधि प्रयोग नाम की धर्मचर्यानुस्मृति का विवेचन करने वाले अन्तिम धर्म का उपदेश किया। बोधिसत्त्व ने जिस "धर्मालोकमुख" अर्थात् धर्म के प्रकाश-द्वार का उपदेश दिया, वे धर्मालोक मुख संख्या में एक सो आठ हैं।[२१] वे इस प्रकार हैं- (१) श्रद्धा, (२) प्रसाद (निर्मलता), (३) प्रमुदिता (सुखी को देखकर डाह न करना), (४) प्रीति, (५) कायसंवर (शरीर को दुष्कर्मो से बचाना), (६) वाकसंवर, (७) मन: संवर, (८) बुद्धानुस्मृति (बुद्ध-गुणों की बार-बार स्मृति करना), (९) धर्मानुस्मृति, (१०) संघानुस्मृति, (११) त्यागानुस्मृति. (१२) शीलानुस्मृति, (१३) देवतानुस्मृति, (१४) मैत्री (निर्वैरभाव), (१५) करूणा, (१६) मुदिता, (१७) उपेक्षा, (१८) अनित्यप्रत्यवेक्षा (सब वस्तुओं की अनित्यता की बार-बार भावना करना), (१९) दु:ख प्रत्यवेक्षा, (२०) अनात्मप्रत्यवेक्षा, (२१) शान्तप्रत्यवेक्षा, (२२) ह्री (आत्मलज्जा), (२३) अयत्रपा (लोकलज्जा), (२४) सत्य, (२५) भूत, (२६) धर्माचरण, (२७) त्रिशरणगमन (बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण जाना), (२८) कृतज्ञता, (२९) कृतवेदिता, (३०) आत्मज्ञता, (३१) सत्वज्ञता, (३२) धर्मज्ञता, (३३) कालज्ञता, (३४) निरभिमानता, (३५) अप्रहतचित्तता, (३६) अनुपनाह (बैर न बाँधना), (३७) अधिमुक्ति (धर्म की अटल लगन), (३८) अशुभप्रत्यवेक्षा (जागतिक वस्तुओं को अपवित्र समझना), (३९) अव्यापाद (कल्याण भाव), (४०) अमोह, (४१) धर्मार्थिता (धर्म के अर्थ की जानकारी), (४२) धर्मकामता (धर्माभिलाषा), (४३) श्रुतपर्यैष्टि (सुने हुए धर्म का विचार), (४४) सम्यक् प्रयोग, (४५) नामरूपपरिज्ञा (भौतिक, मानसिक जगत् का जानना), (४६) हेतुदृष्टिसमुद्घाट (हेतु में लगी दृष्टि का विनाशन), (४७) अनुनयप्रतिघप्रहाण (राग तथा द्वेष का नाश), (४८) स्कन्ध कौशल्य (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और वेदना नामक पाँचों स्कन्धों के स्वरूप का विधिवत ज्ञान), (४९) धातु समता, (५०) आयतनापकर्षण (ज्ञानेन्द्रियों तथा विषयों के द्वारों का खुला होना), (५१) अनुत्पाद, (५२) कायगतानुस्मृति (शारीरिक चेष्टाओं के प्रति सावधानी), (५३) वेदनागतानुस्मृति, (५४) चित्तगतानुस्मृति, (५५) धर्मगतानुस्मृति, (५६) चार सम्यक्-प्रहाण, (५७) चार ऋद्धिपाद, (५८) श्रद्धा, (५९) वीर्य. (६०) स्मृति, (६१) समाधि, (६२) प्रज्ञा, (६३) श्रद्धा, (६४) वीर्यबल, (६५) स्मृतिबल, (६६) समाधिबल, (६७) प्रज्ञाबल, (६८) स्मृति संबोध्यंग, (६९) धर्मविचय, (७०) वीर्यसंबोध्यंग, (७१) प्रीति संबोध्यंग, (७२) अवधूत संबोध्यंग, (७३) समाधि संबोध्यंग, (७४) उपेक्षा संबोध्यंग, (७५) सम्यगदृष्टि, (७६) सम्यकसंकल्प, (७७) सम्यग्वाक्, (७८) सम्यक्कर्मान्त, (७९) सम्यगाजीव, (८०)

सम्यग्व्यायाम, (८१) सम्यक्स्मृति, (८२) सम्यक्समाधि, (८३) बोधिचित्त, (८४) आशय (सम्पूर्ण प्राणियों को दु:ख से छुड़ाने का भाव), (८५) अध्याशय, (८६) प्रयोग, (८७) दान पारमिता (दानरूपी धर्माचरण), (८८) शील पारमिता, (८९) क्षांति पारमिता, (९०) वीर्यपारमिता, (९१) ध्यानपारमिता, (९२) प्रज्ञापारमिता, (९३) उपायकौशल्य, (९४) चार संग्रह वस्तुएँ (दान, प्रियवादिता, अर्थचर्या तथा समानार्थता), (९५) सत्त्वपरिपाक, (९६) सद्धर्मपरिग्रह, (९७) पुण्यसंभार, (९८) ज्ञानसंभार. (९९) शमथ संभार, (१००) विदर्शना (निर्मल अन्तर्दृष्टि), (१०१) प्रतिसंवित् (विवेकज्ञान). (१०२) प्रतिशरणावतार, (१०३) धारणी प्रतिलंभ, (१०४) प्रतिभान प्रतिलंभ (प्रतिभाप्राप्ति), (१०५) आनुलोमिक धर्मज्ञानक्षांति, (१०६) अवैवर्तिकभूमि, (१०७) भूमेर्भूमि, (१०८) अभिषेक भूमि (गर्भवास, जन्म, गृहत्याग, दुष्करचर्या, बोधिवृक्ष के नीचे आसन लागाना, मार विजय, बुद्धत्वप्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण)।[२२]

इन एक सौ आठ धर्मालोकमुखों का उपदेश बोधिसत्त्वों को दिया तथा यह कहा कि जब मैं बोधि लाभ करूँ तब फिर अमृतरूपी धर्म का श्रवण करने हेतु मेरे पास उपस्थित होना।

५. प्रचल परिवर्त

प्रचल नामक इस परिवर्त में भगवान् तुषित लोक से इस संसार में अवतरित होने के लिए उद्यत दिखाई पड़ते हैं। तब देवताओं ने उनके जन्म विषयक वातावरण और लक्षणों के विषय में भविष्यवाणी की। बोधिसत्त्व के जन्म के समय को देखकर राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में आठ पूर्व निमित्त प्रकट हुए, यथा- राजप्रासाद अत्यन्त रमणीय हो गया, पक्षियाँ कलरव करने लगी, सभी लताएँ हरी-भरी. फूलों, फलों से सुसज्जित हो गई, सभी तालाब एवं बावणियाँ फूलों से युक्त हो गई, राजमहल सभी प्रकार के धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया आदि। इसके पश्चात् माया देवी राजा शुद्धोदन से अपनी मनोकामनाओं तथा सद्इच्छाओं के लिए प्रार्थना करती हैं और राजा उन्हें पूर्ण करने के लिये आश्वासन प्रदान करते हैं।[२३] देव गण तथा देव कन्याएँ उनके जन्म के प्रति सब प्रकार के सचेष्ट हो जाते हैं। इन बातों का वर्णन इस परिवर्त में किया गया है।

६. गर्भावक्रान्ति

शिशिर काल के बीत जाने पर विशाल नक्षत्र से युक्त बैशाख मास में श्रेष्ठ ऋतु वसन्त काल के अवसर पर, तीनों भुवनों में श्रेष्ठ, लोक में पूजित, बोधि सत्त्व पन्द्रहवें दिन पड़ने वाली पूर्णमासी-तिथि में ऋतुकाल, मुहुर्त देखकर, पुष्य नक्षत्र के योग में, व्रतोपवास करने वाली जन्म दात्री माँ की दाहिनी कोख में, तुषित लोक के श्रेष्ठ भवन से उतर कर स्मृति एवं ज्ञान के सहित, छ: दाँतों से परिपूर्ण इन्द्रियों के बाल गज बनकर प्रविष्ट हुए और प्रविष्ट होकर गर्भ में दाहिनी करवट से रहे, बाईं से नहीं।[२४]

बोधिसत्त्व के गर्भावक्रान्ति करने पर सुख से सेज पर लेटी हुई माया देवी ने ऐसा स्वप्न देखा- ''हिम एवं रजत के समान श्वेत, छः दाँतों वाला, सुन्दर पैरों वाला, सुन्दर लाल सिर वाला, मनोहर गति वाला, वज्र के समान दृढ़ अंगो वाला श्रेष्ठ हाथी पेट में प्रविष्ट हो गया। उस समय उन्हें अपूर्व सुख एवं आनन्द की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् महारानी सुन्दर वस्त्रों को धारण करके स्त्रियों से घिरी हुई जहाँ अशोक-वाटिका थी वहाँ पहुँच कर राजा के पास संदेश भेजी कि महाराज अशोकवाटिका मे शीघ्र पधारें, महारानी आपका दर्शन चाहती हैं। महाराज शुद्धोदन सन्देश सुनकर अशोक वाटिका के द्वार पर पहुँचे, परन्तु उसमें प्रवेश न कर सके।[२५] इसके बाद शुद्धावासकायिक देवपुत्र ने बोधिसत्त्व के गर्भावक्रान्ति की कथा राजा से कही। राजा इस आकाश वाणी को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रार्थना करते हुए उन्होंने अशोक-वाटिका में प्रवेश किया[२६] तथा माया देवी को देखकर बोले कि हे देवि! तुम्हारे लिए क्या करूँ? इसके पश्चात् महारानी ने स्वयं द्वारा देखे गये स्वप्न को राजा से बतलाया और उस स्वप्न के फल के विषय में पूछा।

तत्पश्चात् राजा ने यह बात सुनकर उसी समय वेदज्ञ एवं स्वप्न वेत्ता ब्राह्मणों को बुलवाया और रानी के स्वप्नफल के विषय में पूछा। रानी के द्वारा उक्त स्वप्न को सुनकर ब्राह्मण बोले- ''बड़े ही आनन्द की बात है। कुल का अशुभ नहीं होगा। लक्षणों से अलंकृत अंगों वाला, राजवंश का वंशोद्धारक, महात्मा, चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करोगी।[२७] यदि वह घर, नगर, काम-भोग तथा राज्य छोड़कर, राग-रहित, सब लोगों पर दयालु हो बेघरबारी होगा तो तीनों लोकों में पूजनीय बुद्ध होगा तथा अमृत के उत्तम रस से सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करेगा।[२८] इस प्रकार ब्राह्मणों से स्वप्न-फल को सुनकर महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा ब्राह्मणों को प्रचुर धन-धान्य देकर विदा किया। उस समय कपिल वस्तु महानगर में सब को दान (वस्त्र, आभूषण, अन्न) दिया गया।

इसके बाद महाराज महारानी के निवास-योग्य सर्वकालिक आराम देह भवन के विषय में विचार करने लगे। उस समय देवताओं ने उनके निवास के लिए घर (महल) प्रदान करने हेतु प्रस्ताव रखा। शुद्धोदन ने भी माया देबी के लिये एक दिव्य महल का निर्माण कराया। बोधिसत्त्व के प्रभाव से सभी देवगण यही समझते थे कि बोधिसत्त्व की माँ उनके ही प्रासाद में निवास कर रही हैं।[२९] तदनन्तर उन देवताओं की सभा के मध्य किन्हीं देवपुत्रों के मन में ऐसा हुआ कि जो ये चातुर्महाराजिक देवता हैं, वे भी जब मनुष्य के शरीर के भीतर होने वाले दुर्गन्ध से घृणा कर दूर भागते हैं तो अन्य देवताओं की क्या गति है? इसलिए सब लोकों में ऊपर उठे हुए पवित्र, दुर्गन्ध-रहित प्राणियों में श्रेष्ठ, तुषित लोक के देव निकाय से अवतार लेकर बोधिसत्त्व माता की कोख में दस मास तक कैसे ठहरेंगे?[३०] सभी देवगणों की भावनाओं को जानकर बोधिसत्त्व उस रत्नमय निवास स्थान जो अनुपम था और जिसका परिभोग बोधिसत्त्व को माता की कोख में निवास करते हुए करना था, को दिखाया।[३१]

भगवान् बोधिसत्त्व के मातृगर्भ में आते ही महापृथ्वी को भेद कर कमल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे महाब्रह्मा को छोड़कर और कोई नहीं देख सकता था।[३२] सभी देवता एवं देवनारियाँ मातृ-गर्भ में भगवान् की भलीभाँति देख-रेख करती हुई उनकी पूजा-अर्चना किया करती थीं। माता के गर्भ में निवास करते हुए बोधिसत्त्व से किसी भी प्रकार का कष्ट माया देवी को नहीं होता था। माया देवी सब प्रकार से संतुष्ट, आनन्दविभोर, उत्फुल्लमन, प्रमुदित प्रीतिमन्त तथा मन से सुखी रहती थीं। माता की कोख में विराजते हुए बोधिसत्त्व की मंकलकामना से, समय-समय पर वर्षा होती थी, समयानुसार ऋतु तथा नक्षत्र बदलते थे। कपिलवस्तु में सब प्रकार से आनन्द का वातावरण उपस्थित था। सम्पूर्ण राज्य धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। कोई दीन तथा दरिद्र नहीं रहा।[३३] इस प्रकार बोधिसत्त्व ने दस मास तक माता की कोख में निवास किया।

७. जन्म परिवर्त

दस मास व्यतीत हो जाने पर जब बोधिसत्त्व के जन्म की शुभ घड़ी उपस्थित हुई, उस समय राजा शुद्धोदन के घर तथा उपवन में बत्तीस पूर्व निमित्त, यथा- सभी लताओं में कलियाँ लग गई, तालाबों में उत्पल कुमुद, पद्म तथा पुण्डरीकों में मुकुल लग गये, आठ रत्न वृक्ष प्रकट हुए, अन्तःपुर में रत्नों के अंकुर उत्पन्न हो गये आदि प्रकट हुए।[३४] तदनन्तर माया देवी ने बोधिसत्त्व के जन्म मुहुर्त को उपस्थित जानकर पति की आज्ञा लेकर लुम्बिनी नामक वन को प्रस्थान कीं। वहाँ पर देव-पत्नियाँ तथा अप्सराएँ बोधिसत्त्व की माता की पूजा करती थीं। उस लुम्बिनी नामक वन में बोधिसत्त्व का जन्म हुआ। जिस समय उनका जन्म हुआ, पृथ्वी को भेदकर महापद्म उत्पन्न हुआ। नन्द, उपनन्द, नागादि राजाओं ने उन्हें शीत और उष्ण जल धाराओं से स्नान कराया।[३५] तथागत उस महापद्म पर बैठकर चारों दिशाओं का अवलोकन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मेरे समान प्रज्ञा, शील, समाधि में कोई सत्त्व नहीं है।[३६] जन्म-ग्रहण करते ही भगवान् ने भयरहित, स्थिर सात कदम पूर्वाभिमुख होकर गमन किया। भगवान् जहाँ-जहाँ पर पग रखते वहाँ-वहाँ कमल प्रकट हो जाते थे। मैं देवताओं और मनुष्यों द्वारा पूजनीय रहूँगा, यह सिद्ध करने के लिए वे दक्षिण दिशा की ओर सात पग चले, सात पग पश्चिम दिशा की ओर चले। सातवें पग पर खड़े होकर सिंहनाद करते हुए आल्हादकारी बचन बोले- मैं लोक में ज्येष्ठ हूँ, मैं लोक में श्रेष्ठ हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जन्म, जरा, मृत्यु और दुःख का अन्त करूँगा। मैं सब प्राणियों में अनुत्तर हूँ यह जतलाने के लिए उत्तर दिशा की ओर सात पग चले। मैं मार तथा मार-सेना को मार भगाऊँगा, सभी नरक में पड़े प्राणियों की नरकाग्नि को बुझाने के लिए धर्म की महावर्षा करूँगा, जिससे वे सभी सुखी होंगे, यह दिखाने के लिए सात पग नीचे की दिशा की ओर चले। वे ऊपर की दिशा की ओर यह दिखाने के लिए सात पग चले कि सभी प्राणी मुँह उठाकर मुझे देखेंगे।[३७]

जिस समय भगवान् ने जन्म लिया, उस समय नाना प्रकार के प्रातिहार्य उदित हुए। देवताओं ने देव-दुन्दुभियाँ बजायीं, सब ऋतु और समय के वृक्षों में फूल और फल लग

गये। विशुद्ध गगन तल से मेघ-शब्द सुनाई पड़ा। पृथ्वी कम्पायमान हो गई। मेघ रहित आकाश से हल्की-हल्की वर्षा हुई। सुगन्धित वायु बहने लगी। सभी दिशाएँ प्रसन्न मालूम हुई। सभी सत्त्वों को काय-सुख और चित्त-सुख प्राप्त हुआ। सभी सत्त्व अकुशल क्रिया से विरत हो गये। सभी सत्त्व राग-द्वेष, मोह, दर्प आदि दोषों से रहित हो गये। जिनको नेत्र-विकलता थी, उन्हें नेत्र-लाभ हुआ। दरिद्रों को प्रचुर धन-धान्य प्राप्त हुआ। जो वृद्ध थे, वे बन्धन से मुक्त हो गये। अवीचि आदि नरकों में वास करने वाले सत्त्व दुःख रहित हो गये। तिर्यग्योनि वालों का अन्योन्य-भक्षण दूर हो गया। यम लोक निवासी सत्त्वों की क्षुत्पिपासा- दुःख शान्त हो गया। सप्तपदी के समय सभी लोक तेज से परिस्फुटित हो गये। गीत एवं नृत्य के शब्द हुए तथा पुष्प, चूर्ण, गन्ध, माल्य, रत्न, आभरण और नाना भाँति के वस्त्रालंकारों की वर्षा हुई। संक्षेप में ये सभी क्रियाएँ अद्भुत और अचिन्त्य हुई।[३८]

इसी परिवर्त में आनन्द और भगवान् बुद्ध का महत्वपूर्ण सम्वाद का भी वर्णन है। आनन्द ने अन्जलिबद्ध होकर बुद्ध को प्रणाम किया तथा यह भी कहा कि बुद्ध का धर्म अद्भुत है। भगवान् की शरण में, मैं अनेक बार जाता हूँ।[३९] भगवान् ने कहा कि हे आनन्द! भविष्य काल में कुछ भिक्षु उद्धत और अभिमानी होंगे। उनको तथागत में श्रद्धा न होगी। उनका चित्त विक्षिप्त होगा। वे संशयान्वित होंगे। वे बोधिसत्त्व को गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास नहीं करेंगे। वे कहेंगे कि यह किस प्रकार सम्भव है कि बोधिसत्त्व माता की कोख से जन्म लेते समय गर्भ-मल से उपलिप्त नहीं हुए।[४०] वे मूढ़ पुरुष इस बात को नहीं जान सकेंगे कि पुण्यवान् सत्त्वों का शरीर उच्चार-प्रस्रावमण्ड में नहीं होता। तथागत की गर्भावक्रान्ति कल्याणप्रद होती है। वे नहीं जानते कि तथागत देव तुल्य हैं और हम सभी मनुष्य मात्र हैं।[४१] उनके स्थान की पूर्ति करने में हम समर्थ नहीं हो सकते। उन्हें समझना चाहिए कि हम लोग भगवान् की इयत्ता अर्थात् प्रमाण को नहीं जान सकते। वे अचिन्त्य हैं। उद्धत भिक्षु ऋषि और प्रातिहार्य पर विश्वास नहीं करेंगे। वे बुद्ध धर्मो का प्रतिक्षेप करें। उनकी दुर्गति होगी।[४२] आनन्द ने भगवान् से पूछा कि इन असत्यपुरुषों की क्या गति होगी? भगवान् बोले कि जो कोई इन सूत्रान्तों को सुनकर इन पर श्रद्धा नहीं करेगा, वह च्युत होने पर अवीचि नामक महानरक में पड़ेगा।[४३] हे आनन्द! तथागत की वाणी अप्रामाणिक नहीं होती। इसके विपरीत जो इन सूत्रान्तों को सुनकर प्रसन्न होंगे उनको प्रसाद सुलभ होगा। उनका मनुष्य जीवन सफल एवं सार्थक होगा। वे सार्थक पदार्थ ग्रहण करेंगे। वे तीनों अपायों से मुक्त होंगे। तथागत-धर्म में श्रद्धा रखने का यही फल है।[४४] जिन सत्त्वों को भगवान् का दर्शन या धर्म श्रवण प्रिय होता है भगवान् उन्हें मुक्त करते हैं और उनको भगवद्भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धा का अभ्यास करना चाहिए। मित्र से मिलने के लिए लोग योजनशत भी जाते हैं और अदृष्ट पूर्वमित्र को देखकर सुखी होते हैं। फिर उसका क्या कहना, जो मेरे आश्रित हो कुशलमूल का आरोपण करता है, जो मुझपर श्रद्धा रखेंगे, अनागत बुद्ध भी उनकी अभिलाषाओं को पूर्ण करेंगे। जो मेरे शरण में आये हैं वे सभी मेरे मित्र हैं। मैं उनका कल्याण साधित करता हूँ। तथागत के ये मित्र हैं, यह समझकर अनागत बुद्ध भी उनके साथ मैत्री भाव से रहेंगे। इसलिए हे आनन्द!

श्रद्धोत्पाद के लिए उद्योग करो।[४५]

बोधिसत्त्व के जन्म लेने पर राज्य कर्मचारियों ने कुमार के जन्म की सूचना महाराज शुद्धोदन को दी कि हे राजन्! लक्षणों से विभूषित कुमार का जन्म हुआ है। उसके साथ ही शाक्यों के घरों में पच्चीस सहस्र पुत्र, चेटियों के आठ सौ छन्दक आदि पुत्र, कण्ठक के समान सुन्दर, श्रेष्ठ, बलयुक्त, मनोहर केशों वाले दस सहस्र अश्व उत्पन्न हुए हैं।[४६] पाँच हजार हथिनी एवं पाँच हजार हाथी उत्पन्न हुए हैं। उन सबको राजा ने कुमार को क्रीड़ा के लिए दिया। बोधिसत्त्व के भोग-विलास के लिए चन्दन वन, पाँच सौ उपवन आदि उत्पन्न हुए बोधिसत्त्व के जन्म ग्रहण करते ही राजा के सभी अर्थ सिद्ध हो गये, अत: उन्होंने उनका नाम ''सर्वार्थसिद्ध'' रखा।[४७] बोधिसत्त्व जन्म के सातवें दिन उनकी माँ माया देवी का स्वर्गवास हो गया। सर्वार्थसिद्ध लुम्बिनी वन से कपिलवस्तु लाये गये, जहाँ वे शाक्यों के घरों में चार माह तक निवास करने के पश्चात् राजा उन्हें अपने महल में ले आये। महल में राजकुमार की सेवा शुश्रुषा के लिए, शाक्यों से विचार-विमर्श करके सिद्धार्थ की पदेन मौसी महाप्रजापती गौतमी को नियुक्त किया गया।[४८] तत्पश्चात् राजा शाक्य-गणों को बुलवाकर यह विचार-विमर्श किया कि सिद्धार्थ क्या चक्रवर्ती राजा होंगे अथवा प्रव्रज्या के लिए गृह-त्याग कर निकल पड़ेंगे।

उस समय पर्वत राज हिमालय के एक खण्ड में पाँच अभिज्ञाओं के जानने वाले अपने भांजे नरदत्त के साथ असित् नामक महर्षि रहते थे,उन्होंने बोधिसत्त्व के उत्पन्न होते ही बहुत से दिव्य चमत्कार देखे और यह भी देखा कि आकाश तल पर विद्यमान देव पुत्र ''बुद्ध'' इस शब्द को सुनाते हुए, वस्त्र घुमाते हुए प्रसन्नता के साथ इधर-उधर विचरण कर रहे हैं। अत: असित् मुनि तथागत के दर्शनार्थ अपने भांजे के साथ आकाश मार्ग से कपिलवस्तु में महाराज शुद्धोदन के राजमहल पहुँचकर राजा के पास, अपने उपस्थित होने का समाचार द्वारपाल द्वारा भेजा। राजा ने मुनि का उचित अतिथि-सत्कार करके महर्षि के आगमन के प्रयोजन को विनम्र भाव से पूछा। राजा के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महर्षि ने कहा हे महाराज! आपके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है, उसके दर्शन की इच्छा से मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। तब महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार को गोद में लेकर असित् महर्षि के पास गए।[४९]

असित् महर्षि ने बोधिसत्त्व को देखकर, उन्हें महापुरूषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त, अस्सी अनुव्यंजनों से सुन्दर एवं विचित्र देह वाला देखकर हर्ष. विस्मय तथा प्रीति बोधक ये वाक्य कहे- अहो लोक में आश्चर्य पुरुष प्रकट हुए हैं, अहो लोक में वे महाश्चर्य पुरुष प्रकट हुए हैं। इसके बाद अपने आसन से उठकर तथा अंजली बाँधकर उन्हें प्रणाम किया तथा उनकी प्रदक्षिणा कर बोधि सत्त्व को गोद में लेकर विचार करने लगे। उन्होंने बोधिसत्त्व में महापुरुषों के बत्तीस शुभ लक्षणों को देखा, जिनसे युक्त होने वालों की केवल दो ही प्रकार की गतियाँ होती हैं; तीसरी नहीं।[५०] यदि वह घरवारी रहता है तो चतुरंगिणी सेना से युक्त चक्रवर्ती राजा होकर ऐश्वर्य एवं स्वामित्व के साथ राज्य करेगा और यदि

वह घर-बार छोड़कर परिव्राजक हो जाता है तो तथागत प्रसिद्ध घोष कर सम्यक् सम्बुद्ध होता है। वे राजकुमार को देखकर आँसू बहाते हुए लम्बी-लम्बी श्वांस लेने लगे।[५१]

राजा शुद्धोदन ने महर्षि असित की ऐसी स्थिति देखकर अत्यन्त चिन्तित हो गये और महर्षि से उनके विलाप करने का कारण पूछा। इस पर महर्षि असित् ने राजा को सांत्वाना देते हुए बोले कि हे महाराज! आप निश्चिन्त होंवे, मैं कुमार के लिए नहीं रो रहा हूँ। इन पर कोई भी विपदा नहीं आने वाली है। मैं स्वयं अपने-आप पर रो रहा हूँ क्यों कि मैं जीर्ण, वृद्ध, अधिक अवस्था वाला हो गया हूँ। ये सर्वार्थसिद्ध कुमार अवश्य अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार करेंगे, सम्बोधि का साक्षात्कार करके धर्मचक्र का प्रवर्तन करेंग, जिसका आज तक किसी ने धर्म के साथ प्रवर्तन नहीं किया है।[५२] ये सर्वसुखाय तथा सर्व हिताय धर्म की देशना करेंगे, जिससे देव तथा मानव सभी तुष्ट होंगे। कुमार संबोधि प्राप्त करके समस्त प्राणियों को संसार सागर से पार उतारेंगे और अमृत में प्रतिष्ठित करेंगे।[५३] हम उन बुद्ध रत्न को वृद्ध वयस का होने से न देखे सकेंगे, इसलिए रोते हुए मन में अत्यन्त दुःखी है क्योंकि इस शरीर को त्यागने के पश्चात् मेरा अमरत्व यद्यपि होगा तथापि मैं इनकी अराधना न कर पाऊँगा।[५४]

हे महाराज! राजकुमार जिन शुभ लक्षणों से युक्त हैं उनकी केवल दो ही गतियाँ होती हैं। वे यदि घरबारी होंगे तो चक्रवर्ती राजा होंगे और यदि घरबार छोड़कर परिव्राज कहोंगे तो अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्ध होंगे। लेकिन हे महाराज! हमारे मन्त्रमय वेदशास्त्रों के अनुसार कुमार घर-बारी होने के योग्य नहीं हैं क्योंकि कुमार महापुरुष के बत्तीस शुभ लक्षणों एवं अस्सी अनुव्यंजनों से युक्त हैं, जिनसे युक्त होने के कारण कुमार घरबारी होकर नहीं रहेंगे। वे अवश्य ही प्रव्रज्या के लिए निकलेंगे।[५५] इसके पश्चात् महाराज शुद्धोदन के द्वारा आतिथ्य सत्कार ग्रहण करके वे अपने भांजे के साथ अकाश मार्ग से अपने आश्रम पहुँचे। वहाँ पहुँचकर अपने भांजे नरदत्त को भगवान् बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिया। इसके बाद कपिलवस्तु में अनेक देव गणों का समूह आया तथा कुमार की पूजा, अर्चना, प्रदक्षिणा करके सभी आकाश मार्ग से लौट गये।[५६]

८. देवकुलोपनयन परिवर्त

देव कुलोपनयन नामक इस परिवर्त में तथागत के देवालय गमन का विषय वर्णित है। जिस रात्रि को बोसित्त्व का जन्म हुआ उसी रात को कपिलस्तु के श्रेष्ठ कुलों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, रईस तथा गृहपति (सेठ) लोगों के यहाँ बीस हजार कन्याओं का जन्म हुआ, जिनको उनके माता-पिताओं ने बोधिसत्त्व की सेवा पूजा के लिए प्रदान किया, शुद्धोदन ने भी बीस हजार कन्याओं को बोधिसत्त्व की पूजा के लिए प्रदान की।[५७] बीस हजार कन्याएँ मित्रों ने, अमात्यों ने, जाति-विरादरी के लोगों ने, अमात्योंके पार्षदों ने बोधिसत्त्व की सेवा-पूजा के लिए प्रदान की।

एक दिन बड़े-बूढ़े शाक्य गण एकत्रित होकर राजा शुद्धोदन के पास जाकर बोले।

हे महाराज! अब कुमार को देवकुल ले जाना चाहिए। शुद्धोदन ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए सम्पूर्ण नगर, रास्तों, महलों, मकानों को पूर्ण रूप से सजाने की आज्ञा-प्रदान की। सभी अशुभ, अप्रिय सामग्रियों को विरत करने का आदेश प्रदान किया। नगर के सब प्रकार से अलंकृत कर दिए जाने पर, सभी लोगों के एकत्रित हो जाने पर विभिन्न प्रकार के बाद्यों द्वारा पुण्य भेरियाँ वजने पर, महाराज शुद्धोदन अपने भवन में जाकर महाप्रजापती गौतमी को सम्बोधित करके कहा कि कुमार को सब प्रकार से अलंकृत करो, उन्हें देव कुल ले जाना होगा। ऐसा ही होगा, यह कह कर महाप्रजापती गौतमी कुमार को अलंकृत करने लगी।[५८]

इसके पश्चात् अलंकृत किए जाते हुए बोधिसत्व ने साधारण स्वभाव से प्रसन्नचित्त होकर सरस वाणी में मौसी से पूछा। अम्मा! मुझे कहाँ ले जाया जाएगा? गौतमी ने उत्तर दिया। पुत्र! तुम्हें देवकुल ले जाया जाएगा। तदनन्तर हँसमुख कुमार मुस्कराते हुए मौसी से बोले[५९]

यहाँ मेरे जन्म-ग्रहण करते ही त्रिसाहस्र लोक धातु काँप उठे थे। इन्द्र, ब्रह्मा, असुरगण महानाग-गण, कुबेर तथा कार्तिकेय ने चरणों में गिरकर शिर से मुझे प्रणाम किया था। हे अम्बे! कौन-सा और देवता मुझसे बड़ा और श्रेष्ठ है, जिसके पास आज तुम मुझे ले जा रही हो? मैं सब देवताओं में उत्तम, देवताओं में भी सबसे श्रेष्ठ देवता हूँ, सब देवगण मेरी बराबरी के भी नहीं है, फिर मुझसे बढ़कर हो ही कौन सकता है?[६०] हे माँ! लोकानुवर्तन के लिए मैं देवकुल जाऊँगा। मेरे द्वारा किए गये विशेष चमत्कारी कृत्य को देखकर आनन्दित हो लोग अत्यन्त मान और पूजा करेगें। देवता और मनुष्य यह जान लेंगे कि ये वही देवों के भी देवातिदेव बुद्ध हैं।

इस प्रकार सब तरह से अलंकृत हो, स्तुति, मंगलगान के होते हुए, सम्पूर्ण सजे हुए नगर से अलंकृत रथ पर सवार हो कर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, रईसों, सेठों, अमात्यों, परिचारिकों द्वारा अनुगमित होते हुए राजा शुद्धोदन कुमार को साथ में लेकर, नाना भाँति के बाद्यों के बजने पर, आकाश से पुष्प वृष्टि होने पर देवकुल के लिए प्रस्थान किया। देवकुल में कुमार ने ज्योंही अपना दायाँ पैर रखा त्योंही देवालय की सभी देवों की निश्चेष्ट मूर्तियाँ बोधिसत्त्व का अभिवादन करने के लिए अपने-अपने स्थान से उठकर उनके पैरों के पास आकर गिर पड़ी।[६१] कपिलवस्तु महानगर छः प्रकार से काँप उठा[६२] एवं दिव्य पुष्पों की वर्षा हुई तथा बिना बजाए हुए अनेकों वाद्यों की आवाज सुनाई पड़ने लगी। जिन देवताओं की वे प्रतिमाएँ थीं, वे सभी अपने असली स्वरूप में प्रकट होकर ऐसी वाणी बोले-

पर्वतों में श्रेष्ठ, पर्वतों का राजा सुमेरू कभी सरसो के समक्ष नहीं झुक सकता, नाग राजों का निवास स्थान समुद्र गौष्पद के सामने कभी भी नहीं झुक सकता। चमकती हुई किरणों वाले तथा प्रकाश करने वाले चन्द्र एवं सूर्य जुगनू के समक्ष कभी भी झुक नहीं सकते। त्रिसाहस्रमहासाहस्र लोक-धातु में जो कई मान से भरे हुए देव, मनुष्य हैं, वे सरसों,

गौष्पद में जल अथवा जुगनू के समान हैं। लोक में उत्तम स्वयंभू सुमेरू, समुद्र, चन्द्रमा एवं सूर्य के समान है, जिनकी वन्दना करके देवासुर स्वर्ग तथा निर्वाण का लाभ प्राप्त करते हैं।[६३]

९. आभरण परिवर्त

इस परिवर्त में तथागत के विभिन्न अलंकरणों की गणना हुई है। उदायी के पिता उदयन नामक राजपुरोहित ब्राह्मण पाँच सौ ब्राह्मणों के साथ शुभ मुहूर्त्त में राजा के पास जाकर बोला। हे देव! आपको विदित हो कि कुमार के आभरण बनने चाहिए। राजा ने कहा हाँ-हाँ अवश्य बनना चाहिए। इसके पश्चात् राजा शुद्धोदन तथा पाँच सौ शाक्यों ने पाँच-पाँच सौ आभूषण बनवाए। यथा- हाथों के आभूषण, पैरों के आभरण, शिर के आभरण, कण्ठ के आभरण, मुद्रिकाओं (मुँदरियों) के रूप में बने आभरण, कर्णाभरण, बाजूबन्द, कमरबन्द, सुवर्ण के सूत्र, घुँघुरूओं के जाल, रत्नजाल, जड़ाऊ, पादुकाओं, अमुक्तामालाएँ, कड़े, कण्ठ श्री नामक आभूषण तथा मुकुट बनवाकर शुभ नक्षत्र के योग से युक्त मुहूर्त में वे सभी शाक्यगण शुद्धोदन के पास जाकर बोले- देव! कुमार का मण्डन करें। राजा ने कहा कि हमने भी कुमार के लिए सभी आभूषण बनवाए हैं। सभी शाक्यों ने कहा कि हम सभी के गहनों को कुमार सात-सात दिनों तक धारण करें, जिससे हम लोगों का यह उद्योग सफल हो जाए।[६४]

इसके पश्चात् विमल व्यूह नामक उपवन में महा प्रजापति गौतमी सिद्धार्थ को गोद में लिए हुए थीं। वहाँ पर अस्सी हजार स्त्रियाँ, दस हजार कन्याएँ दस हजार शाक्य, पाँच हजार ब्राह्मण बोधिसत्त्व का दर्शन करते थे। उसी उपवन में शाक्यों के द्वारा बनवाए गये आभूषणों को बोधिसत्त्व को पहनाया गया, लेकिन वे सभी आभूषण तथागत की प्रभा से बिल्कुल फीके दिकाई दे रहे थे। उस समय बिमला नामक उद्यान देवी ने अपने शरीर को दिखलाकर, राजा एवं अन्य शाक्यों से कहा कि- भले ही यह सम्पूर्ण पृथ्वी सोने के आभूषणें से परिपूर्ण कर दी जाय, लेकिन उसकी शोभा राजकुमार की शोभा के समक्ष सदैव ही नगण्य होगी।[६५] यह सम्पूर्ण जम्बूदीप स्वर्ण की प्रभा से चमकने लगे तो भी नायक के रोम-रोम से निकलने वाली कोमल शोभा से पूर्ण आभा के सामने फीका पड़ जायेगा। ये (बोधिसत्त्व) अपने तेज एवं श्रेष्ठ गुणों से सुभूषित हैं, इनके अत्यन्त निर्मल शरीर पर आभूषण शोभा नहीं देंगे।[६६] चन्द्र, सूर्य, तारागण, मणि, अग्नि, इन्द्र तथा ब्रह्मा की भी शोभा भी धन के सम्मुख न जगमगाएगी। पूर्व जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप जिनकी काया लक्षणों से चित्रित हैं, उनकी चमकदमक दिखाने वाले आभूषणों से क्या प्रयोजन है? अत: इन सभी आभूषणों को उतार लो।[६७] ये परमबुद्धि के देने वाले, बनावटी आभूषणों को नहीं चाहते। शुभ राजकुल में उत्पन्न हुए बोधिसत्त्व के साथ उत्पन्न हुए छन्दक को इन सभी आभूषणों को दे दो। ऐसी वाणी सुनकर सभी शाक्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। ऐसा कहकर वह वन देवी बोधिसत्त्व पर दिव्य पुष्पों की वर्षा करके अन्तर्हित हो गई।

१०. लिपिशालासंदर्शन परिवर्त

इस परिवर्त में बोधिसत्त्व के लिपिशाला में गमन का वृत्तान्त वर्णित है। कुमार जब बड़े हुए तब उन्हें शतसहस्रों मंगलाचारों के साथ लिपिशाला ले जाया गया। उनके साथ दस हजार बालक, दस हजार रथ, खाने-पीने की प्रचुर सामग्री, सोने तथा चाँदी से परिपूर्ण रथ थे, जिन सामग्रियों का रास्तों, चौराहों, गलियों. बाजारों में बौछार की जाती थी, उनका वितरण किया जाता था। चबूतरों, अटारियों, तोरणों, गवाक्षों, महलों पर बने कूटागारों, घरों तथा प्रासादों के तलों पर शत-सहस्र कन्याएँ आभूषणों से भूषित खड़ी पुष्प-वृष्टि कर रही थीं। देव-कन्याएँ भली-भाँति सुसज्जित होकर मार्गो का संशोधन करती हुई चल रही थीं। देवता, नाग, गन्धर्व, यक्ष, असुर, गरूण, किन्नर तथा महोरग, अर्धशरीर से प्रकट हो फूल की वर्षा कर रहे थे।[६८] सभी शाक्यगण राजा को आगे करके बोधिसत्त्व को लेकर लिपिशाला में ले गये।

बोधिसत्त्व को ज्यों ही लिपिशाला में प्रवेश कराया गया, त्योंही छात्रों के आचार्य विश्वामित्र कुमार के तेज तथा श्री को न सह सकने के कारण अधोमुख होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उस समय शुभाङ्गनामक देवपुत्र विश्वामित्र को उठाते हुए तथा समग्र जन-समूह को सम्बोधित करते हुए ऐसी वाणी बोला-

संख्या, लिपि, गणना, धातुतंत्र आदि जो शास्त्र मनुष्य लोक में प्रचलित हैं तथा जो बहुत से अप्रमेय शिल्पयोग लोकानुबन्धी हैं, उनमें बहुत कल्पकोटिं तक इन बोधिसत्त्व ने शिक्षा पाई है, किन्तु ये लोकानुवर्तन (लोक में प्रचलित आचार का पालन) कर रहे हैं। इसलिए भली-भाँति शिक्षित होते हुए भी बहुत से बालकों को अग्रयान (बोधिसत्त्वयान भावी बुद्धों के लिए बुद्ध की स्थिति तक ले जाने वाला मार्ग) में पक्का करने के लिए एवं अन्य प्राणियों को अमृत (मोक्ष) में विनीत करने के लिए, लिपिंशाला में सीखने के लिए आये हैं। ये चतुरार्यसत्य के लोकोत्तर मार्ग की विधि को जानने वाले हैं। धर्म जैसे हेतु के प्रत्यय से उत्पन्न हैं, उनके ज्ञान में ये कुशल हैं और जिस प्रकार उन धर्मो का निरोध, क्षय, मरण तथा शीतिभाव होता है, उसकी विधि भी जानते हैं, फिर केवल लिपिशास्त्र की बात ही क्या?[६९] तीनों लोकों में अथवा उनसे ऊपर इन बोधिसत्त्व का कोई आचार्य नहीं है। ये सब देवताओं एवं मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। तुम सब उन लिपियों का नाम भी नहीं जानते हो, जिनको बुहत कल्प कोटियों तक इन बोधिसत्त्व ने पहले सीखा हैं।[७०] ऐसा कहकर वह देवपुत्र बोधिसत्त्व की पुष्पों से पूजा करके अन्तर्हित हो गया।

इसके पश्चात् कुछ धायों और चेटियों को छोड़कर अन्य सभी शाक्यगण राजा शुद्धोदन के साथ नगर को लौट गये। तब बोधिसत्त्व आचार्य विश्वामित्र से बोले- हे आचार्य मुझे कौन-सी लिपि सिखाएगें- (१) ब्राह्मी, (२) खरोष्ठी, (३) पुष्करसारी, (४) अंगलिपि, (५) बङ्गलिपि, (६) मगधलिपि, (७) मंगल्यलिपि. (८) अङ्गुलीयलिपि, (९) शकारलिपि, (१०) ब्रह्मवलिपि, (११) पारुष्यलिपि, (१२) द्राविड़ लिपि, (१३) किरातलिपि,(१४)

दाक्षिण्य लिपि, (१५) उग्रलिपि, (१६) संख्या लिपि, (१७) अनुलोमलिपि, (१८) अवमूर्धलिपि, (१९) दरदलिपि, (२०) सांख्यालिपि, (२१) चीनलिपि, (२२) लूनलिपि, (२३) हूनलिपि, (२४) मध्याक्षरविस्तरलिपि, (२५) पुष्यलिपि, (२६) देवलिपि, (२७) नागलिपि, (२८) यक्षलिपि, (२९) गन्धर्वलिपि, (३०) किन्नर लिपि. (३१) महोरगलिपि, (३२) असुरलिपि, (३३) गरूण लिपि, (३४) मृगचक्रलिपि, (३५) वायसरूतलिपि, (३६) भौमदेवलिपि, (३७) अन्तरिक्षदेवलिपि, (३८) उत्तरकुरूद्वीपलिपि, (३९) अपरगोदानीयलिपि, (४०) पूर्वविदेहलिपि, (४१) उत्क्षेपलिपि, (४२) निक्षेपलिपि, (४३) विक्षेपलिपि, (४४) प्रक्षेपलिपि, (४५) सागरलिपि, (४६) वज्रलिपि, (४७) लेखप्रतिलेखलिपि, (४८) अनुपद्रुतलिपि, (४९) शास्त्रावर्तलिपि, (५०) गणनावर्तलिपि, (५१) उत्क्षेपावर्तलिपि, (५२) निक्षेपावर्तलिपि, (५३) पादावर्तलिपि, (५४) द्विरूत्तरपदसंधिलिपि, (५५) अध्याहारिणीलिपि, (५६) सर्वरूतसंग्रहणीलिपि, (५७) विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपि, (५८) ऋषितपस्तप्तालिपि, (५९) रोचमानालिपि, (६०) धारणीप्रक्षेपणीलिपि, (६१) गगनप्रक्षेणीलिपि, (६२) सर्वौषधिनिष्यन्दालिपि, (६३) सर्वसारसंग्रहणीलिपि, (६४) सर्पभूतरूतग्रहणीलिपि नाम की चौसठ लिपियों में से, हे उपाध्याय, कौन-सी लिपि सिखाएगें।[७१]

तब आचार्य विश्वामित्र विस्मययुक्त होकर मद, मान तथा दर्प से रहित होकर कहा-महान् आश्चर्य वाले सब शास्त्रों में शिक्षित ये बोधिसत्त्व लोक में लोकानुवर्तन करने के लिए लिपिशाला में आए हैं। जिन लिपियों का नाम भी मैं नहीं जानता, उनमें पारङ्गत होते हुए भी ये बोधिसत्त्व लिपिशाला में आए हैं। इन लिपि-विषयक विद्या के पारगामी को मैं क्या सिखलाऊँगा ? ये देवातिदेव हैं, सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं, प्रभु हैं, इनकी समता किसी से भी नहीं की जा सकती, ये विशेष पुरुष हैं, लोकों में इनकी बराबरी का पुरुष नहीं है। इन्हीं की प्रेरणा से मैं प्रज्ञा तथा उपाय के विषय में विशेष रूप से सब लोक को आश्रय देने वाली शिक्षा सिखलाऊँगा।[७२]

इस प्रकार दस हजार बालक बोधिसत्त्व के साथ लिपि की शिक्षा प्राप्त करते थे। वहाँ बोधिसत्त्व के प्रभाव से उन बालकों के द्वारा वर्णमाला वाँचते समय प्रमुख-प्रमुख असंख्येय शतसहस्र धर्म-मुख अर्थात् धर्म में प्रवेश कराने वाले शब्द निकलते थे। इस तरह बोधिसत्त्व ने लिपिशाला में अध्ययन करते हुए बत्तीस हजार बालकों को अनुत्तर सम्यक् संबोधि में पक्का किया। बत्तीस हजार बालिकाओं ने बोधिचित्त उपजाया।[७३] यही कारण था जिसके फलस्वरूप शिक्षित होते हुए भी बोधिसत्त्व लिपिशाला में गये हुए थे।

११. कृषिग्राम परिवर्त

कुमार धीरे-धीरे बड़े हुए। एक समय कुमार अपने मित्रों के साथ कृषिग्राम गये और उन्होंने कृषि-कार्य देखकर उद्यान भूमि में प्रवेश किया। बोधिसत्त्व ने उस उद्यान में प्रसन्नता प्रदान करने वाला सुन्दर एवं मनोहर जम्बू वृक्ष देखा। वहाँ बोधिसत्त्व छाया में पलथी मारकर बैठ गये। वहाँ पर बैठते ही उन्हें समाधि लग गई।[७४] बोधिसत्त्व को एकाग्रता

प्राप्त हो गई, जिसे पाकर काम-वासनाओं से अलग हुए, शुभ-अशुभ धर्मों से रहित, स्थूल एवं सूक्ष्म चिन्तन से युक्त विवेक से उत्पन्न (एकान्त में उत्पन्न) प्रीति तथा सुख से युक्त होकर प्रथम ध्यान पाकर विहार करने लगे।

फिर वे सूक्ष्म एवं स्थूल चिन्तन के शान्त हो जाने, चित्त के निर्मल हो जाने पर समाधि से उत्पन्न प्रीति तथा सुख से युक्त द्वितीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

फिर प्रीति में राग न रह जाने के कारण वे उपेक्षक, स्मृतिमान प्रीति से रहित होकर तृतीय ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

फिर सुख का परित्याग कर देने से तथा पहले से ही दुःख का परित्याग कर देने के कारण, सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अन्त हो जाने से दुःख-सुख रहित होकर एवं स्मृति से परिशुद्ध चतुर्थ ध्यान को पाकर विहार करने लगे।

उस समय पाँच सिद्ध ऋषि अपने ऋद्धि-बल से आकाश-मार्ग से दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे, परन्तु उस उद्यान को पार न कर सके। वे बड़े ही चिन्तित हुए कि हम बिना किसी व्यवधान के सभी लोकों में गमन करते हैं, लेकिन यहाँ किसकी लक्ष्मी हमारे ऋद्धि बल को रोक रही है। तब उस वन कुन्ज के देवता ने बतलाया कि राजाधिराज वंश में उत्पन्न शाक्यों के राजा शुद्धोदन के पुत्र शत-शत जन्मों में कोटि-कोटि पुण्य गुणों से समृद्ध हुए, ये कुमार इस वन में बैठे ध्यान-चिन्तन में लगे हुए हैं। इन्हीं की लक्ष्मी ऋद्धिबल को रोक रही है। तब उन ऋषियों ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए कुमार को देखा। उनके मन में यह भाव उठा कि ये कुबेर, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, कामदेव, रूद्र, कृष्ण, श्रीधन अथवा निष्पाप बुद्ध है। तब पुनः उस वन-देवता ने कुमार बोधिसत्त्व के विषय में विस्तृत रूप से जानकारी प्रदान की और कहा कि सभी देवगण इनके समक्ष नगण्य है। इनकी बराबरी कोई देवता नहीं कर सकता। तब वे ऋषिगण कुमार की प्रदक्षिणा तथा पूजा करके कहा कि- आग से तपे हुए लोक में एक सरोवर के रूप में कुमार का जन्म हुआ है। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे, जो जगत् को तार देगा। क्लेश के बन्धन में बंधे लोगों को ये छुड़ाने वाले उत्पन्न हुए हैं। ये उस धर्म को प्राप्त करेंगे, जो जगत् को मुक्ति दिलाएगा तथा ये ऐसे धर्म को प्राप्त करेंगे जो जरा-मरण से मुक्ति दिलाएगा। वे ऋषिबोधिसत्त्व की इस प्रकार स्तुति कर आकाश-मार्ग से चले गये।

तत्पश्चात् महाराज शुद्धोदन ने कुमार को न देखकर अन्य लोगों से उनके विषय में पूछा। सभी लोग कुमार की खोज करने लगे। एक मंत्री जम्बूवृक्ष की छाया में पलत्थी मारकर बैठे हुए बोधिसत्त्व को देखा और इसकी सूचना राजा को दी। तब राजा जहाँ जम्बू वृक्ष था वहाँ पहुँचे और श्री तथा तेज से जलते हुए बोधिसत्त्व को देखा। उन्हें पर्वत के शिखर पर अग्नि के समान, नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा के समान देखकर कहा- हे मुने। जब तुम उत्पन्न हुए थे तब की तरह, हे मुने! आज जब तुम ध्यान कर रहे हो, मैं तुम्हारे चरणों में दूसरी बार वन्दना कर रहा हूँ।

एक बार पुनः छन्द आदि अपने मित्रों के साथ कुमार उपवन घूमने के लिए गये। उस उपवन में विशाल जम्बू वृक्ष को देखकर सम्पूर्ण जगत् के दुःखों, दौर्मनस्यों को देखकर पुनः उस वृक्ष की छाया में बैठकर ध्यान में लीन हो गये। राजा पुनः उनकी खोज कराई तो फिर पूर्ववत् स्थिति में कुमार को देखकर अचरज में होकर हाथों को जोड़, प्रणाम करके पैरों पर पड़ गये और बोले! हे साधु पुरुष! हे शोभन जन्म वाले। हे अच्छे रूप वाले! जगत् पर करूणा से शीघ्र बोधि प्राप्त करो और प्राणियों को अमृत की ओर ले जाओ।

तीसरी बार पुनः इसी अवस्था में कुमार को पाकर राजा कुमार के पास पहुँचे। जब कुमार समाधि से जगे तो अपने पिता से बोले- तात! खेती छोड़कर परहित कार्य करो। यदि सोने से मतलब हो तो मैं सोने की वृष्टि करूँगा। यदि कपड़ों से मतलब हो तो मैं ही कपड़े दूँगा, यदि अन्न से मतलब हो, मैं ही अन्न दूँगा। हे नरेन्द्र! जगत् के हित के लिए जुट जाओ। पिता को तथा लोगों की परिषद् को उपदेश देकर बोधिसत्त्व ने उसी समय नगर में प्रवेश किया। चित्त में घर से निकल पड़ने के भाव से युक्त वे अत्यन्त पवित्र मन वाले लोकाचार पालते हुए नगर में रहने लगे।

१२. शिल्पसंदर्शन परिवर्त

इस परिवर्त में राजा शुद्धोदन कुमार के विषय में पूर्व ऋषियों के द्वारा की गई भविष्यवाणी को ध्यान में रखते हुए उनके विवाह के विषय में सोचने लगे। राजा अपने कर्मचारियों को कुमार के योग्य कन्या खोजने हेतु भेजा। सभी शाक्य अपनी-अपनी बेटियों को कुमार के योग्य बतलाने लगे। अंततः राजा बोधिसत्त्व से इस सम्बन्ध में राय जाननी चाही। तब बोधिसत्त्व के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि सभी काम-भोग अनन्त दोष वाले, दुःखों की जड़ और भयानक हैं। काम गुणों में मेरा प्रेम एवं अनुराग नहीं है। मुझे ध्यानसमाधि के सुःख से शान्त चित्त होना ही काम्य है। पुनः प्राणियों के दुःखों को देखकर उनके दुःखों को दूर करने हेतु अपने से पूर्ववर्ती बोधिसत्त्वों की चर्याओं का स्मरण करके उन्होंने कन्या-वरण करने का निश्चय किया। जो प्रमाद न करके मेरे चित्त को अत्यन्त आनन्दित कर सके तथा रूप, जन्म, कुल एवं गोत्र से अत्यन्त शुद्ध हो, मैं उसी का वरण करूँगा। उन्होंने इस बात के माध्यम से राजा को अवगत कराया।

महाराज का ब्राह्मण मंत्री बोधिसत्त्व के द्वारा उल्लिखित पत्र को लेकर नगर एवं राज्य में घूंमने लगा। शाक्य दण्डपाणि के घर पहुँचने पर उसकी पुत्री ने उस पत्र को पढ़कर कहा कि मैं कुमार के योग्य हूँ। कुमार शीघ्र मुझे यहाँ से ले चलें। यह समाचार राजा को प्राप्त हुआ। तब राजा ने पूछा कि वह किसकी कन्या है? जब राजा को विदित हुआ कि शाक्य दण्डपाणि की कन्या है, तो राजा ने घोषणा की कि- आज से सातवें दिन कुमार कन्याओं को उपहार प्रदान करेंगे। सातवें दिन नगर की अनेक कन्याएँ उपहार ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हुई। उपहार वितरण करते-करते जब समाप्त हो गया उस समय दण्डपाणि

की कन्या गोपा कुमार के पास पहुँच कर बोली कि कुमार मैंने आपका क्या बिगाड़ा है जो मेरा अपमान कर रहे हैं। कुमार ने कहा कि मैं तुम्हारा अपमान नहीं कर रहा हूँ तुम सबसे बाद में आयी हो। अत: उसके उपलक्ष में यह कीमती अंगूठी लो। गोपा ने कहा क्या मैं कुमार से यही पाने के योग्य हूँ। कुमार ने अपने सभी आभूषणों को देना चाहा, परन्तु गोपा ने कहा कि मैं कुमार को अलंकृत करने आयी हूँ, अनलंकृत करने नहीं, यह कहकर वह चली गई। इसकी सूचना राजा के पास पहुँची कि दण्डपाणि की कन्या गोपा में कुमार की अनुरक्ति है। तब राजा ने यह प्रस्ताव दण्डपाणि के पास भेजा, लेकिन दण्डपाणि ने कहा कि मैं अपनी पुत्री किसी गुणी शिल्पज्ञ को दूँगा। इस वृत्तान्त को राजा ने सुना तो अत्यन्त चिन्तित हुये। बोधिसत्त्व को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने राजा से कहा, हे देव आप किसलिए चिन्तित हैं। राजा के द्वारा ज्ञात होने पर बोधिसत्त्व ने कहा "देव इस नगर में शिल्प दिखाने में मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। अत: सब शिल्पज्ञों को इकट्ठा कीजिये, जिनके सामने मुझे अपना शिल्प दिखाना है।" राजा ने नगर में घोषणा कराई कि बोधिसत्त्व आज से सातवें दिन अपना शिल्प दिखायेंगे। वहाँ सभी शिल्पज्ञ एकत्रित हों। इस प्रकार सातवें दिन सभी शिल्पज्ञ एकत्रित हुये। वहाँ पर बोधिसत्त्व लिपिज्ञान, संख्या-ज्ञान ज्योतिष, गणना-रीति, प्रातिहार्य-प्रदर्शन, मल्लयुद्ध. युद्ध-विद्या, धनुष-विद्या, भाला-प्रक्षेप आदि सभी शिल्पों में सबसे श्रेष्ठ निकले।

इसके बाद दण्डपाणि शाक्य ने अपनी बेटी गोपा नाम की शाक्य कुमारी को बोधिसत्त्व के लिए अर्पित किया और राजा शुद्धोदन ने विवाह-विधि से उसका बोधिसत्त्व के लिए वरण किया।

१३. संचोदना परिवर्त

इस परिवर्त में अमरों द्वारा बोधिसत्त्व को जागतिक प्रपंचों से दूर होने का निवेदन किया गया है। देवताओं के द्वारा उन्हें पहले किये गये वादों का स्मरण कराया जाता है तथा बोधि-प्राप्त करके जगत् का कल्याण करने के लिए निवेदन किया गया है।[७५]

१४. स्वप्न परिवर्त

इस परिवर्त में सिद्धार्थ के गृह-त्याग हेतु चार प्रकार के हेतुओं (रुग्ण, जरा, सन्यास एवम् मृत्यु) की अवस्थाओं का उल्लेख हैं। इसके साथ ही गोपा के स्वप्न का वर्णन, उसके स्वप्न का बोधि सत्त्व द्वारा फलकथन वर्णित है। इसके बाद बोधिसत्त्व के स्वप्न का वर्णन किया गया है।[७६]

१५. अभिनिष्क्रमण परिवर्त

इसमें बुद्ध के गृह-त्याग एवं उनके विरक्ति का विवेचन है। बोधिसत्त्व के गृह-त्याग का समय जानकर राजा ने उनकी सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध किया तथा स्वयं भी रक्षा-कार्य में नियुक्त हुये। इसके विपरीत यक्षों ने बोधिसत्त्व के गृह-त्याग का समय जानकर उनकी

सेवा के लिए नाना प्रकार की व्यवस्था की और उनको निकलने हेतु उत्तम अश्व को उपस्थित किया। इसके पश्चात् बोधिसत्त्व सब विघ्नों के उपस्थित होते हुये भी गृह का परित्याग किया। उनके गृह-परित्यागोपरान्त नगर में कौलाहल, रूदन आदि का वर्णन किया गया है।

१६. बिम्बसारोपसंक्रमण परिवर्त

इस परिवर्त में बुद्ध के द्वारा परमार्थ सत्य की गवेषणा का प्रसंग वर्णित है। इसके साथ ही इस परिवर्त में महाराज बिम्बिसार द्वारा बोधिसत्त्व को अपना सम्पूर्ण साम्राज्य अपर्ण करने की उत्कट अभिलाषा का वर्णन किया गया है।

१७. दुष्कर चर्या परिवर्त

इसमें तथागत की उग्र तपस्या का वर्णन किया गया है। भगवान् ने गुरू की खोज में कई स्थानों पर परिभम्रण किया, परन्तु उन्हें कहीं भी सन्तुष्टि नहीं मिली।

१८. नैरंजना परिवर्त

इस परिवर्त में बोधिसत्त्व की नैरंजना नामक स्थान पर की गयी साधना एवं सुजाता द्वारा उन्हें पायस (खीर) दिये जाने की कथा वर्णित है। इसमें मार (कामदेव) द्वारा बोधिसत्त्व को उनके पथ से डिगाने के लिये किये गये प्रयत्नों का वर्णन है।

१९. बोधिमण्डगमन परिवर्त

२०. बोधिमण्डव्यूह परिवर्त

इनमें बुद्ध के बोधिमण्डगमन का वर्णन है।

२१. मार-धर्षण परिवर्त

मारधर्षण परिवर्त में बोधिसत्त्व का सामना कामदेव के साथ होता है। अनङ्ग अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ बोधि-वृक्ष के पास पहुँचा, जहाँ उसकी परमसुन्दरी कन्यायें बोधिसत्त्व को कामासक्त करने का प्रबल प्रयत्न करती हैं। इसके पश्चात् जब बोधिसत्त्व मारकन्याओं के अनेक प्रयत्नों से भी कामासक्त नहीं होते हैं तो अनङ्ग अपनी चतुरङ्गिणी सेना को आदेश देकर उनको विजित करना चाहता है, परन्तु सब तरह से वह पराजित ही होता है और बोधिसत्त्व की विजय होती है।

२२. अभिसम्बोधन परिवर्त

इसमें तथागत को तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तत्त्वज्ञान ही परम सत्य है। यह परिवर्त दार्शनिक दृष्टिकोण से विशेष महत्वपूर्ण है।

२३. संस्तव परिवर्त

संस्तव नामक इस परिवर्त में देवगण बुद्धत्व प्राप्त बोधिसत्त्व की नाना प्रकार से स्तुति करते हैं तथा लोक-कल्याणार्थ अपने सद्धर्म का उपदेश करने की प्रार्थना करते हैं, जबकि बोधिसत्त्व इस आशंका से अपनी अनुत्सुकता प्रदर्शित करते हैं कि विश्व उनके धर्म का तथ्यत: परिग्रहण कर सकेगा अथवा नहीं।

२४. त्रपुषभल्लिक परिवर्त

इस परिवर्त में समन्त कुसुम नामक देव एवं तथागत का सम्वाद, प्रश्नोत्तर रूप में है। बोधि के बाद तथागत के द्वारा सात सप्ताह में किये गये कार्यो का वर्णन, मार-दुहिताओं की अपराध की कथा तथा त्रपुष एवं भल्लिक का प्रकरण, जिसमें इनके लिए भगवान् द्वारा स्वस्तिवाचन का वर्णन किया गया है, का इस प्रकरण में वर्णन है।

२५. अध्येषणा परिवर्त

इसमें भगवान् बुद्ध देवताओं एवं अमरों की प्रार्थना को स्वीकार करके अपने सद्धर्म का लोक कल्याणार्थ उपदेश करने का निश्चय करते हैं।

२६. धर्मचक्रप्रवर्तन परिवर्त

इस परिवर्त में बोधिसत्त्व के पूर्व के पाँच साथियों को प्रथम धर्मोपदेश का उल्लेख है। बोधि प्राप्त कर लेने तथा धर्मोपदेश करने का निर्णय करने पर बोधिसत्त्व ने सोचा कि मैं अपने इस धर्म का उपदेश सर्वप्रथम किसे करूँ? उन्होंने तय किया कि मैं उसे सबसे पहले धर्म की देशना करूँगा, जो मेरे उपदेश दिए धर्म को समझे तथा मुझे पीड़ित न करे। इसके बाद बोधिसत्त्व ने सोचा कि उद्रक रामपुत्र, शुद्ध एवं अच्छे आचरण वाले हैं, उन्हें मुख से शिक्षित किया जा सकता है, मुख से शोधित किया जा सकता है। उनका राग, द्वेष और मोह अल्प हैं। वे इस समय कहाँ रहते हैं? अपने ज्ञान-बल से उन्हें ज्ञात हुआ कि रूद्रक रामपुत्र का देहावसान एक सप्ताह पहले हो चुका है। देवताओं ने भी यही बात कही। तब बोधिसत्त्व ने सोचा कि अराङ कालाम शुद्ध है। वे मेरी धर्म-देशना को ग्रहण कर लेंगे, लेकिन उन्हें ज्ञात हुआ कि अराङ कालाम आज से तीन दिन पहले ही स्वर्गवासी हो गये हैं।

इसके पश्चात् तीसरी बार तथागत के मन में यह बात आयी कि मैं पहले-पहल पंच-भद्रवर्गीयों को धर्म की देशना करूँ। तब तथागत विचार करने लगे कि वे सब इस समय कहाँ पर हैं? इसके बाद तथागत ने बुद्ध-चक्षु से सम्पूर्ण लोक को निहारते हुए देखा कि पन्च-भद्रवर्गीय वाराणसी के पास ऋषिपत्तन के मृगदाव में विहार कर रहे हैं। उन्हें देखकर तथागत के मन में यह बात आयी कि मैं यदि पन्च-भद्रवर्गीय भिक्षुओं को सबसे पहले धर्म की देशना करूँगा तो वे सबसे पहले मेरी धर्म-देशना को जान लेंगे, क्योंकि वे चरित्रवान् हैं, अत्यन्त पंडित हैं, शुक्ल धर्म के हैं, मोक्ष-मार्ग की ओर मुख किए

हुए हैं।

ऐसा सोचकर बोधिसत्त्व बोधिमण्डप से उठकर मगध देश में विचरते-विचरते काशी में विचरण करने लगे। तब गया और बोधिमण्डप के बीच तथागत की भेंट एक आजीवक से हुई, जिसने तथागत को देखकर कहा "हे गौतम! तुम्हारी इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रशान्त है, तुम्हारे शरीर का रंग बिल्कुल शुद्ध है, तुम्हारा मुखमण्डल एक दिव्य प्रकाश से प्रकाशमान है। आयुष्मन्त आप इस समय किसके पास ब्रह्मचर्य का आचरण कर रहे हैं?[७७] इसके पश्चात् तथागत ने उस आजीवक से कहा- "मेरा कोई आचार्य नहीं, मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, मैं एक सम्बुद्ध हूँ, सब तरह से मल रहित हूँ। मैंने जानने योग्य वस्तु को जान लिया है, पाप-धर्मो को जीत लिया है। इसलिए मैं ही जिन हूँ।[७८] आजीवक ने पूछा, हे गौतम। "कहाँ जाओगे?" तथागत ने उत्तर दिया- "मैं वाराणसी जाऊँगा। वहाँ पर अन्धे हुए लोक के लिए अनुपम ज्योति को प्रकाशित करूँगा वहाँ शब्द रहित लोक के लिए अमृत की दुन्दुभी बजाऊँगा।"

इस प्रकार चारिका करते हुए तथागत विभिन्न स्थानों से होते हुये जहाँ वाराणसी नगरी थी, वहाँ पहुँचे। इसके पश्चात् भिक्षाटन करते हुये जहाँ ऋषिपत्तन मृगदाब था और जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु रहते थे वहाँ पहुँचे। पंचवर्गियों ने तथागत को आते हुये देखकर यह निश्चय किया कि यह वही श्रमण गौतम आ रहा है जो शैथलिक (अपने व्रत से ढुलमुल), बाहुलिक (बहुत खाने-पीने वाला), प्रहाण-विभ्रष्ट (तपस्या से अत्यन्त भ्रष्ट), सुखल्लिकायोगी (आरामतलबी), अभव्य (निकम्मा) हो चुका है, अत: इसका कोई स्वागत न करे, कोई इसके लिए उठकर खड़ा न हो, कोई इसका पात्र, चिवर न ले, कोई इसे आसन, जल, पाद प्रतिष्ठान न दे, परन्तु ज्योंही तथागत उन सबके पास पहुँचे त्योंही किसी ने भिक्षा-पात्र लिया, किसी ने वस्त्र-चीवर लिया और किसी ने जल लाकर दिया, किसी ने आसन दिया, क्योंकि वे सभी लोग तथागत के प्रभाव को सहन न कर सके थे। तत्पश्चात् तथागत ने अपनी सम्यक् सम्बोधि के सम्बन्ध में उन लोगों से बतलाया, जिसकी पुष्टि देवताओं की आकाशवाणी द्वारा हुई। इसके पश्चात् वाराणसी के समीप ऋषि पत्तन के मृगदाब में सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध ने देवताओं की प्रार्थना पर रात्रि के पिछले प्रहर में पंचभद्रवर्गियों के चार आर्य सत्य (दु:ख, दु:खसमुदय, दु:ख निरोध और दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपद) का विस्तृत उपदेश दिया। इसके पश्चात् इस परिवर्त में धर्मचक्र की गुण-वर्णना, तथागत-वैशारूख-वर्णना, तथागत बलवर्णना, तथागत गुणान्तर वर्णना तथागत घोषवर्णना, तथागत सर्वपूज्यत्व वर्णना, धर्मचक्रप्रवर्तन, तथागत गुण वर्णना के वृत्तान्त का वर्णन है।

२७. निगम परिवर्त

इस परिवर्त में ललित-विस्तर महासूत्र का माहात्म्य वर्णित है और इसी के साथ ग्रन्थ की समाप्ति होती है।

बौद्ध चीनी परम्परा में ललित-विस्तर को सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का बुद्ध-जीवनी

प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। यह ग्रन्थ महायान के समस्त लक्षणों से सम्वलित होते हुए भी हीनयान के कथा-गीतों के कतिपय अंशों को अपने में समेटे हुए है। इसके शीर्षक से ही यह आभास होता है कि यह महायानी ग्रन्थ है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में तथागत का जीवन, कार्य एक लोकोत्तर जीव की लीला के रूप में वर्णित है। इसके प्रारम्भिक परिवर्तों में बुद्ध एक दिव्य प्राणी के रूप में लक्षित होते हैं। यद्यपि इसका प्रारम्भ पालिसुत्तों की परिपाटी के अनुसार ही होता है।

ललित-विस्तर, पालि साहित्य तथा महायान सूत्रों में वर्णित तथागत के जीवन-चरित का तुलनात्मक अध्ययन

बुद्ध की गर्भावक्रान्ति एवं उनकी जन्म विषयक जो कथा ललित-विस्तर में वर्णित है वह पालि ग्रन्थों में वर्णित कथा से भिन्न है, यह बात दूसरी है कि पालि ग्रन्थों में तथागत के अनेक अपूर्व गुणों तथा वैशिष्ट्यों का उल्लेख है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में तथागत के अनेक अद्भुत धर्म वर्णित हैं, फिर भी इन अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी पालि ग्रन्थों के बुद्ध अन्य मनुष्यों के समान जरा मरण एवं दुःख के अधीन थे, जबकि ललित-विस्तर के बुद्ध इनसे सर्वथा मुक्त हैं, इसीलिए तथागत ने स्वयं को सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुए कहा है कि मैं लोक में ज्येष्ठ हूँ और सर्व सत्त्वों में अनुत्तर हूँ। पालि ग्रन्थ के संयुक्त निकाय में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार हे भिक्षु! जलज जल में ही उत्पन्न होता है और जल से ही सम्बद्ध है, परन्तु जल से अनुलिप्त होकर जल के ऊपर ही स्थित रहता है, उसी प्रकार तथागत लोक से सम्बद्ध होकर भी लोक को अविभूत करके लोक से उपलिप्स हुए बिना विहार करते हैं।[७९] दीघ निकाय के अनुसार बोधिसत्त्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषित काय से अवतरित हो माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं तो सब लोकों में अप्रमाण अवभास उत्पन्न होता है जो सब देवताओं के तेज को भी अवभासित करता है।[८०] दीघ निकाय के ही अनुसार बोधिसत्त्व महापुरूष के ३२ लक्षणों और ८२ अनुव्यंजनों से विभूषित हैं।[८१] महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार तथागत अपनी इच्छानुसार कल्प-पर्यन्त या कल्पावशेष पर्यन्त निवास कर सकते हैं।[८२] अतः आनन्द ने भगवान् से देव तथा मनुष्यों के कल्याण के लिए कल्प पर्यन्त अवस्थित रहने की प्रार्थना की, परन्तु भगवान् आयु संस्कार का उत्सर्ग पहले ही कर चुके थे, इसलिए तथागत ने आनन्द की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इस अद्भुत गुणों के होते हुए भी पालि ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में हैं कि उन्होंने विशेष उद्योग करके मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण किया और दूसरे लोग उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण करने से ही अर्हत्व की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें मार्ग का अन्वेषण नहीं करना पड़ता, किन्तु महासांघिक लोकोत्तरवादियों के अनुसार बुद्ध के लोकोत्तरत्व का तात्पर्य यह नहीं है, प्रत्युत विशेष है। यदि उनको भी यह अर्थ मान्य होता तो बौद्ध में इस प्रश्न पर मतभेद होने का कोई कारण ही नहीं होता और न तो लोकोत्तरवाद नामक वाद ही प्रचलित होता। इससे स्पष्ट है कि लोकोत्तरवादियों के मत में लोकोत्तर का कोई विशेष अर्थ है। ललित-विस्तर में भगवान् बुद्ध को इसी

विशेष अर्थ में चित्रित किया गया है।

ललित-विस्तर के सातवें परिवर्त (जन्म परिवर्त में) में आनन्द एवं बुद्ध का संवाद है। आनन्द ने करबद्ध प्रार्थना की और कहा कि बुद्ध का अद्भुत धर्म है। मैं भगवान् की शरण में अनेकों बार जाता हूँ।[८३] भगवान् ने कहा- "हे आनन्द! भविष्य काल में कुछ भिक्षु उद्धत एवं अभिमानी होंगे। उनको मुझमें श्रद्धा न होगी। उनका चित्त विक्षिप्त होगा। संशयान्वित होंगे। उन्हें तथागत की गर्भावक्रान्ति परिशुद्धि में विश्वास न होगा। वे तर्क प्रस्तुत करेंगे कि यह सर्वथा असम्भव है कि बुद्ध माता की कोख से बाहर होते हुए गर्भ मल से उपलिप्त नहीं हुए। वे मूढ़ पुरुष इस बात को नहीं जानेंगे कि पुण्यवान सत्त्वों का शरीर उच्चार-प्रसावमण्ड में नहीं होता, तथागत की गर्भावक्रान्ति कल्याणकारी होती है। वे नहीं जानते कि तथागत देवतुल्य हैं हम सब मनुष्यमात्र हैं। उनकी बराबरी हम नहीं कर सकते। उन्हें यह जानना चाहिए कि हम लोग भगवान् के प्रमाण को नहीं जान सकते। वे अचिन्त्य हैं। उद्धत भिक्षु ऋद्धि और प्रतिहार्य पर विश्वास नहीं करेंगे। वे बुद्ध धर्मों का प्रतिक्षेप करेंगे। उनकी दुर्गति होगी।[८४] तथागत से आनन्द ने पूछा कि इन असत्पुरूषों की क्या गति होगी? भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा- "जो इन सूत्रान्तों का सुनकर इनमें श्रद्धा न लाएगा, अन्त में वह अवीचि नामक महानरक में पड़ेगा।[८५] हे आनन्द! तथागत की वाणी असत्य नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो इन सूत्रान्तों को सुनकर इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, उन्हें प्रसाद सुलभ होगा। उनका जीवन सफल और सार्थक होगा। वे तीनों प्रकार के अपायों से रहित होंगे। श्रद्धा का अभ्यास करना चाहिए, जो मुझमें श्रद्धा रखते हैं, उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण होगी।[८६] मेरी शररण में आये हुए सभी लोग मेरे मित्र हैं, यह समझकर अनागत बुद्ध भी उनके साथ मैत्री करेंगे। इसलिए हे आनन्द! श्रद्धोत्पाद के लिए उद्योग करो।[८७] तथागत तथा आनन्द के इस सम्वाद से यह सिद्ध होता है कि लोकोत्तरवादी बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति परिशुद्धि में विश्वास करते थे और उनकी अचिन्त्य स्वीकार करते थे।[८८]

ललित-विस्तर का प्राचीन परम्पराओं के साथ सादृश्य है। इसका वर्णन "महावग्ग" की कथा से काफी साम्य रखता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उक्त दोनों ग्रन्थ एक दूसरे पर आधारित है। ललित-विस्तर में कुछ ऐसे अधिक तत्व हैं, जो पालि परम्परा तथा अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होते। इस दृष्टि से ललित-विस्तर की कतिपय गाथाएं समानान्तर पालि ग्रन्थों से अधिक प्राचीन प्रतीत होती हैं। जहाँ समानता है, वहाँ भी कुछ बातें ललित-विस्तर में इस ढंग से वर्णित हैं, जो अन्य ग्रन्थों में नहीं पायी जाती।[८९] इस प्रसङ्ग में निम्न दो कथाओं का उल्लेख किया जा रहा है।[९०]

पहली कथा आठवें परिवर्त में वर्णित है। इस परिवर्त में बोधिसत्त्व के देवालय गमन की कथा वर्णित है। जिस समय शाक्यों की मंत्रणा से कुमार को देवालय भेजने के निमित्त महाराजा शुद्धोधन के आदेश से कुमार को विविध अलंकरणों एवं परिधानों से अलंकृत किया जाता है, उस समय वह बोल उठते हैं- "मैं तो स्वतः देवाधि देव

हूँ, मुझसे अधिक का देवता कौन है?[९१] फिर भी उन्हें देवालय में प्रवेश कराया जाता है। वे ज्योंहि देवालय में पदार्पण करते हैं, समग्र देव मूर्मियाँ अपने स्थान से उठकर, अपने स्वरूप का प्रकाशन करती हुई कुमार के चरणों में पड़कर उनका अभिवादन करना प्रारम्भ कर देती हैं।[९२]

इसी प्रकार दशवें परिवर्त में बोधिसत्त्व के लिपिशाला में जाने की कथा वर्णित है। कुमार बोधिसत्त्व, दस सहस्र बालकों से अनुगमित हो अनेक मांगलिक कृत्यों एवं बहुत बड़े समारोह के साथ जिसमें अमर गण भी भाग लेते हैं तथा जिसमें अष्टसहस्र दिव्य कन्यायें उनके समक्ष पुष्प विकीर्ण करती हैं, अपने विद्यालय प्रवेश का महोत्सव मनाते हैं। जिस समय बोधिसत्त्व विद्यालय में प्रवेश करते हैं, उसी समय विद्यालयाचार्य विश्वामित्र बोधिसत्त्व के दिव्य तेज को सहन करने में असमर्थ होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।[९३] उस समय शुभांग नामक देवपुत्र उन्हें उठाकर आश्वस्त करते हुए शुद्धोधन सहित समग्र जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए बोला- "कुमार बोधिसत्त्व त्रिकालज्ञ हैं। ये समस्त जगत् के सभी शास्त्रों, कलाओं एवं लिपियों में पारंगत है। इन्हें अध्ययन की अपेक्षा नहीं। फिर भी ये लोक-व्यवहार के लिए लोक को अग्रयान में प्रतिष्ठापित कराने तथा नाना सत्त्वों के शिक्षण के प्रयोजन से विद्यालय में पधारे हुए हैं। हेतु-प्रत्ययों से अभिज्ञ एवं चतुरार्य सत्यों आदि में पारंगत इनका शिक्षक आचार्य इस लोक में कोई नहीं है।"[९४] इसके पश्चात् शुभांग के अन्तर्ध्यान हो जाने पर एवं भूपति सहित समग्र जन समुदाय के चले जाने पर कुमार बोधिसत्त्व आचार्य को इस प्रश्न से अत्यधिक आश्चर्यान्वित कर देते हैं कि चतुषष्ठि लिपियों में से वह किसकी शिक्षा दे रहे हैं साथ ही वे चीनी एवं हुणों की लिपियों सहित उन समग्र लिपियों की गणना कराते हैं, जिनके नाम से भी आचार्य परिचित नहीं है।[९५] अन्ततः बोधिसत्त्व को दस सहस्र बालकों के साथ आचार्य वर्णमालाध्यापन प्रारम्भ कर देते हैं। वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का उच्चारण वह कला पूर्ण विधि से करते हुए एक बुद्धिपूर्ण सिद्धान्त का भी उच्चारण कर देते हैं, जो प्रश्नगत अक्षर से प्रारम्भ होता है।[९६] आचार्य ने कुमार के कौशल को देखकर उनका अभिनन्दन किया।[९७]

इसके अतिरिक्त ललित-विस्तर मे कुछ ऐसी भी घटनाएँ वर्णित हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। "शिल्प संदर्शन एवं संचोदना" परिवर्त (१२ और १३ परिवर्त) इसके दृष्टान्त हैं[९८], किन्तु १४ से लेकर २६ परिवर्तों में वर्णित कथायें ऐसी है, जिनकी पालि ग्रन्थों में वर्णित कथानकों से थोड़ी ही भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।[९९] बौद्ध धर्म के प्राचरकों ने तथागत के जीवन को जिस प्रकार श्रोताओं को सुनाया था, उसका एक दृष्टान्त ललित-विस्तर है। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में तथागत का जीवन नाना-भाव से वर्णित हुआ है, पर उस बात में सभी एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटी है, जो निम्न हैं-

१. तुषित भवन में बोधिसत्त्व का निवास।
२. तुषित भवन से अवतरण।

३. महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश।
४. लुम्बिनी में बोधिसत्त्व का जन्म।
५. नैपुण्य प्रदर्शन तथा गोपा के साथ विवाह।
६. अन्तःपुर विहार तथा चतुर्निमित्त दर्शन।
(वृद्ध, रोगी, मृत एवं प्रव्रजित का दर्शन)
७. अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग)।
८. तपश्चर्या।
९. मार-विजय।
१०. बोधि-प्राप्ति।
११. धर्म-चक्र प्रवर्तन
१२. महापरिनिर्वाण।

इनमें से अन्तिम घटान को छोड़कर अन्य सबका वर्णन ललित-विस्तर में सचमुच ललित-ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानव भाव दिव्य भाव में मग्न दिखाई देता है। जहाँ तक घटनाओं में समानता है वहाँ भी ललित-विस्तर अपने अतिरंजनापूर्ण वर्णनों के कारण अन्य बुद्ध कथा-श्रोतों से विलक्षण है। इस ग्रन्थ में अतिशयोक्ति की मात्र अधिक है। प्राचीन पालि[१००] परम्परा के अनुसार बुद्धत्त्व के अनन्तर बुद्ध विविध वृक्षों के नीचे चार सप्ताह समाधि में व्यतीत करते हैं, जबकि इस ग्रन्थ के अनुसार वे द्वितीय सप्ताह में अनेक लोकों की दीर्घ यात्रा एवं चतुर्थ सप्ताह में पूर्व से पश्चिम समुद्र पर्यन्त एक लघुयात्रा में लगाते हैं।[१०१] अन्तिम परिवर्त में महायान ग्रन्थों की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के महात्म्य का वर्णन है। इस धर्म को जो सुनेंगे अथवा भाषण करेंगे, वे अतुल वीर्योपलब्धि करेंगे। जो इसका समादर करेंगे, वे अष्ट उत्कृष्ट (रूप, बल, परिवार, प्रतिभान, नैष्क्रम्य, चित्त परिशुद्धि, समाधि एवं प्रज्ञा) धर्मो को प्राप्त करेंगे। इस धर्म प्रयोग का वाचन करने वालों को अष्टासन प्रतिलम्भों (श्रेश्ठासन, गृहपत्यासन, चक्रवर्त्यासन, लोकपालासन, शक्रासन, वशवर्त्यासन ब्रह्मासन एवं बोधिमण्ड, निहतमार-प्रत्यार्थिक सिंहासन) की प्राप्ति होगी। इसका वक्ता अष्ट वाक्परिशुद्धियों (आवेदय-वचनता, ग्राह्य वचनता, शलक्ष्मधुर वचनता, कलविंगत्स्वरता, तदुक्त वचनता, ब्रह्म स्वरता, सिंहघोषाभिगर्ज़ितस्वरता, बुद्धस्वरता) का अधिकारी होगा। जो इस धर्म-पर्याय का चतुर्दिक प्रचार-प्रसार करेगा, वह स्मृति, मति, गति धारिणी, प्रतिभान, धर्म, बोधिचित्त एवं प्रतिपत्ति. इन अष्ट महाभिधानों का भागी होगा।[१०२] इसे सम्यक् प्रवर्तित करने वाला दान, शील, श्रुत, शमथ, विदर्शन, पुण्य, ज्ञान तथा महाकरूणा इन अष्ट सम्भारों को प्राप्त करेगा। लोक में इस धर्मपर्याय का प्रकाशकर्त्ता अष्ट महापुण्यता (चक्रवर्तिराजत्व, देवाधिपतित्व, शक्रत्व, सुयाभ देवपुत्रत्व, संतुषितत्व, सुनिर्मितत्व, वशवर्तितत्व एवं महाब्रह्मत्व) की उपलब्धि करेगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ तथागत भी इस सूत्र का महात्म्य विवेचन दिन-रात सत कल्पपर्यन्त करें, तो भी इसका अन्त सम्भव नहीं और न तो तथागत के प्रतिभान का ही क्षय संभाव्य है।[१०३] अन्त में इस सूत्र सम्राट की महिमा का ललित पदों में आख्यान करते हुए, यह बतलाया गया

है कि इसमें आस्था रखने वाले व्यक्ति प्रभुत प्रतिभा तथा अक्षय यशोपलब्धि करेंगे।[१०४] वस्तुतः इस महात्म्य-कथन में पौराणिक अर्थवाद की गन्धानुभूति होती है।

राहुल सांकृत्यायन के द्वारा संकलित "बुद्ध-चर्या" में बुद्ध की जीवनी बड़े ही व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत की गई है, परन्तु इसमें "ललित-विस्तर" की भाँति अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का समावेश नहीं है। अधिकांश स्थलों पर यह ललित-विस्तर की कथाओं से सम्बद्ध है। बुद्ध चर्या मे केवल घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का कुछ स्थलों पर ललित-विस्तर से भेद भी परिलक्षित होता है, जैसे- जिस समय बुद्ध का जन्म होता है, उसी समय यशोधरा (गोपा), छन्न (छन्दक), काल उदायी अमात्य, आजानीय गजराज, कन्थक अश्वराज और खजाने भरे चार घड़े उत्पन्न हुए।[१०५] यह कथा ललित-विस्तर में प्राप्त नहीं होती। ललित-विस्तर के असित मुनि को बुद्ध चर्या में कुलमान्य काल देवल नामक तपस्वी के नाम से अभिहित किया गया है।[१०६]

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह बुद्ध-जीवन से सम्बद्ध प्राचीनतर हीनयानी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के किसी मूल ग्रन्थ का महायान परम्परानुसार परिवर्तित एवं समलंकृत स्वरूप है। इसके सम्यगालोचन से यह भी स्पष्ट होता है कि यह किसी एक लेखक की एकान्त रचना नहीं है, प्रत्युत् यह एक विशद संग्रह है, जिसमें प्राचीनतम एवं नवीनतम अंशों का सुन्दर संयोजन हुआ है।



2—आसीन बुद्ध,
कनिष्क का सिक्का

संदर्भ-सूची

१. ल.वि. (सं. एवं अनुवादक, शास्त्री), निदान परिवर्त, पृ. ३-४
२. ल.वि. (सं. एवं अनुवादक, शास्त्री), निदान परिवर्त, पृ. ५-६
३. वही पृष्ठ-७
४. ल.व. (शास्त्री), नि.प., पृ. १०-१७
५. वही, पृ. १८-२६
६. ल. वि. (शास्त्री), समुत्साह परिवर्त, पृ. ३९-४०. गा. सं. १४
७. ल. वि. (शास्त्री), समुत्साह परिवर्त, पृ. ४०. गा. सं. १६
८. वही, गा.सं. १७
९. वही, पृ. ४१, गा.सं. १८-२०
१०. वही, पृ. ४१-४२.
११. ल. वि. (शास्त्री), समुत्साह परिवर्त गा. सं. २१-२६, पृ. ४२-४३.
१२. वही, पृ. ४३-४६
१३. ल. वि. (शास्त्री), कुलशुद्धि परिवर्त, पृ. ४९
१४. वही, पृ. ४९-५८
१५. वही, पृ. ५८
१६. ल.वि., वही, पृ. ५९
१७. ल.वि.कु.शु. परिवर्त, पृ. ६०-६५
१८. वही, पृ. ६५-६९
१९. वही, पृ. ७०-७१
२०. ल.वि., कु.शु. परिवर्त, पृ. ७२-७९-८२.
२१. ल.वि. (शास्त्री), धर्मालोक मुख परिवर्त, पृ. ८३-८५
२२. ल.वि.. धर्मालोकमुख्य परिवर्त, पृ. ८५-९५
२३. ल.वि., धर्मालोकमुख परिवर्त, पृ. १०३-१०९
२४. ल.वि., गर्भावक्रान्ति परिवर्त, पृ. १४१
२५. वही, पृ. १४२
२६. वही, पृ. १४२
२७. ल. वि., गर्भावक्रान्ति परिवर्त, पृ. १४३-१४५
२८. वही, पृ. १४५
२९. वही, पृ. १४७
३०. ल. वि., गर्भावक्रान्ति परिवर्त, पृ. १४८
३१. वही, पृ. १५१
३२. वही, पृ. १५१
३३. वही, पृ. १५९-६४
३४. ल.वि. जन्म परिवर्त, पृ. १७१-१७२
३५. वही, पृ. १८१

३६. वही, पृ. १८२
३७. ल.वि., जन्म परिवर्त, पृ. १८३
३८. वही, पृ. १८४
३९. वही, पृ. १८४-१८५
४०. वही, पृ. १८५
४१. वही, पृ. १८५
४२. वही, पृ. १८५
४३. वही, पृ. १८६
४४. वही, पृ. १८७
४५. वही, पृ. १८८
४६. वही, पृ. १९३-१९४
४७. ल. वि. (शास्त्री), जन्म परिवर्त, पृ. १९६
४८. वही, पृ. २०१
४९. वही, पृ. २०१-२०३
५०. वही पृ. २०४
५१. वही, पृ. २०४
५२. वही, पृ. २०४-२०५
५३. वही, पृ. २०५-२०६
५४. वही, पृ. २०६
५५. वही, पृ. २०६
५६. ल.वि. (शास्त्री), जन्म परिवर्त, पृ. २०७-२२५
५७. ल.स. (शास्त्री), देवकुलोपनयन परिवर्त, पृ. २३५
५८. वही, पृ. २३५-२३६
५९. वही, पृ. २३६
६०. वही, पृ. २३६
६१. ल.वि. (शास्त्री), देवंकुलोपनयन परिवर्त, पृ. २३७
६२. वही, पृ. २३७
६३. वही, पृ. २३८
६४. ल. वि. (शास्त्री), आभरण परिवर्त, पृ. २४३
६५. वही, पृ. २४५
६६. वही, पृ. २४५
६७. वही, पृ. २४५
६८. ल. वि. (शास्त्री), लिपिशालासंदर्शन, परिवर्त, पृ. २४९
६९. वही, पृष्ठ २५१
७०. वही, पृ. २५२
७१. वही, पृ. २५३
७२. वही, पृ. २५४
७३. वही, पृ. २५५
७४. ल. वि. (शास्त्री), कृषिग्राम परिवत, पृ. २५९
७५. ल. वि. शास्त्री, संचोदना परिवर्त, पृ. ३०९-३५९
७६. वही, स्वप्न परिवर्त, पृ. ३७३-३८९

७७. ल. वि. (शास्त्री), धर्मचक्र प्रवर्तन परिवर्त, पृ. ७६९
७८. वही, पृ. ७७०
७९. संयुक्त निकाय, भाग-३ (स्कन्ध वग्ग), पृ. १४०
८०. दीघ निकाय, भाग-२ (महापदानसुत्तन्त) पृ. ११
८१. वही, ३, पृ. १६
८२. महापरिनिब्बानसुत्त, दीघनिकाय, भाग २, पृ. ८१
८३. ल.वि. (शास्त्री), जन्म परिवर्त, पृ. १८४-१८५
८४. वही पृ. १८४-१८५
८५. वही, पृ. १८६-१८७
८६. वही, पृ. १८६-१८७
८७. वही, पृ. १८८
८८. बौद्ध धर्म दर्शन, सप्तम अध्याय, पृ. १३५
८९. बौद्ध धर्म दर्शन, सप्तम अध्याय, पृ. १३५
९०. वही, पृ. १३५
९१. ल. वि. (शास्त्री), देवकुलोपनयन परिवर्त, पृ. २३६
९२. वही, पृ. २३७
९३. ल. वि. (शास्त्री), लिपिशाला संदर्शन परिवर्त, पृ. २५०
९४. वही, पृ. २५०-२५१
९५. वही, पृ. २५१-२५३
९६. वही, पृ. २५४-२५५
९७. गुरु पूजा कौमुदी (ई. कुह्न), पृ. ११६. हिन्दी ऑफ, इण्डियन लिटरेचर, पार्ट २, पृ. २५२.
९८. ल. वि., १२, १३ परिवर्त।
९९. वही, १४-२६, परिवर्त।
१००. महावग्ग १/१/४
१०१. ल. वि. (लैंफमैन संस्करण), पृ. ३७७
१०२. ल. वि. परिवर्त २६, पृ. ३१६-३१७ (वैद्य संस्करण)।
१०३. वही, परिवर्त २७, पृ. ३१७-३१८ (वैद्य संस्करण)
तु. - राम न सकहिं नाम गुण गाई। –तुलसीदास
१०४. राजाह्यं सर्वसुभाषितानां योऽभ्युद्गतः सर्वतथागतानाम्।
गृहे स्थितस्तस्य तथागतः सदा तिष्ठेदिदं यत्र हि सूत्ररत्नम्।
प्रतिभां स प्राप्नोति शुभामनन्तां एकं पदं वक्ष्यति कल्पकोटी।
न व्यंजना भ्रश्यति नापि चार्या दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः।
अनुत्तरोऽसो नरनापकानां सत्त्वो न कश्चित्सदृशोऽस्य विद्यते।
भवेत्समुद्रेण समश्च सोऽक्षयः श्रुत्वा हि यो धर्ममिमं प्रपद्यते॥

–ल. वि., परिवर्त– २७, ८-१०, पृ. ३१९-३२०

१०५. बुद्धचर्या, पृ. ३ (प्रथम खण्ड), द्वितीय सं. १९५२
१०६. वही

द्वितीय खण्ड

ललित-विस्तर सूत्र का साहित्यिक अध्ययन

(क) भाषा-शैली

बुद्धोपदेश प्रधान धार्मिक काव्य साहित्य भिन्न-भिन्न समय में विविध भाषाओं में रचित हैं। उन भाषाओं में मुख्यतः चार भाषाएँ हैं।

१. संस्कृत

यह पाणिनीय-व्याकरण के नियमों का अनुवर्तन करती है। इसे बौद्ध विद्वानों ने शुद्ध निर्दोष आदि विशेषणों से विभूषित किया है।[१] इस भाषा का प्रयोग मुख्य रूप से अश्वघोष तथा अन्य महायानी कवियों एवं दार्शनिकों की रचनाओं में हुआ है।

२. पालि

यह भाषा मध्य भारतीय आर्य भाषा (मिडल इण्डो आर्यन लैंग्वेज) के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्थविरवाद बौद्ध धर्म की पवित्र भाषा है। इसी भाषा में अधिकांश बौद्ध साहित्य सुरक्षित है।

३. प्राकृत

पालि की भाँति प्राकृत की गणना भी मध्य भारतीय आर्य भाषा के रूप में की जाती है। यहीं ''धम्म-पद'' की भाषा है।[२] इसे खरोष्ठी 'धम्म-पद'' की भाषा भी कहते हैं, क्योंकि यह पुस्तक खरोष्ठी लिपि में ही लिखी गयी है।

४. बौद्ध-संकर-संस्कृत

यह भाषा बौद्ध साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस भाषा को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न नामों से उद्‌बोधित किया है। एजर्टन (Adgerten) ने बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत ''बौद्ध संकर संस्कृत'' के नाम से अभिहित किया है। अन्य विद्वानों ने इसे गाथा-संस्कृत, बौद्ध-संस्कृत, मिश्र-संस्कृत आदि नामों से अभिहित किया है। इसे मिश्र संस्कृत भाषा कहना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि मिश्र (हायब्रिड) का तात्पर्य- संस्कृत एवं मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का सम्मिश्रण है। मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के ऊपर संस्कृत का प्रभाव तथा उनमें संस्कृत भाषा की विशेषताओं के समावेश से ही इस नवीन भाषा का जन्म हुआ। इस भाषा का मूल मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ ही हैं। प्रो. एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलतः मध्य प्रदेश की प्राचीन बोल-चाल की भाषा थी। प्रारम्भिक

अवस्था से ही, कम से कम हस्तलिखित पोथियों में. संस्कृत के प्रति इसका झुकाव दृष्टिगोचर होता है। यह एक तरफ संस्कृत तथा दूसरी ओर मध्य भारतीय आंचलिक भाषाओं से प्रभावित है। प्रो. एजर्टन महोदय ने इसे पृथक सत्ता से समन्वित करते हुए अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के समान महत्व प्रदान किया है। अत: साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विशालता की दृष्टि से इस भाषा को एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्वीकार या मण्डित करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसे पश्चिमोत्तर में वहीं स्थान प्राप्त है जो स्थान दक्षिण में ''पालि'' को प्राप्त है।

समय

इस भाषा के काल-निर्णय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ चीनी भाषा-विशेषज्ञों ने इसका काल ईसा की द्वितीय शताब्दी के पूर्व तक स्वीकार किया है, जिसका आधार कुछ मिश्र संस्कृत की कृतियों का रूपान्तरण है, जो लगभग ई. की द्वितीय शताब्दी में हुए हैं। प्रिज्युलुस्कि ने इस भाषा में साहित्यिक रचनाओं का प्रारम्भ १५० ई. पूर्व में स्वीकार किया है।[३] कीथ महोदय इसका काल तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व तक मानते हैं[४], किन्तु इस भाषा में रचित ग्रन्थों के आधार पर इसका काल ई. पूर्व प्रथम शताब्दी तक स्वीकार किया जा सकता है।[५]

इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही परिष्कृत होती हुई संस्कृत की ओर उन्नमुख रही। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इस भाषा पर संस्कृत का प्रभाव बढ़ता गया। लेखकों द्वारा भी इस भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा, विशेष रूप से शब्द रूप एवं धातु रूप के शब्दों के ही प्रयोग किये गये। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जो ऊपर से शुद्ध संस्कृत में रचे गये प्रतीत होते हैं, परन्तु सूत्र की कसौटी पर कसने से अनेक असंस्कृत शब्द और रूप प्राप्त होते हैं। अत: आज-कल ग्रन्थों के सम्पादन के समय इस बात का सदैव ध्यान रहे कि जिन शब्दों को असंस्कृत शब्द समझें उन्हें सुधारने की कोशिश न करें, क्योंकि यह भाषा मध्य देशीय अशुद्ध संस्कृत नहीं है, अत: उनका यह परम कर्त्तव्य है कि ऐसे शब्दों और रूपों को सुरक्षित रखें।

मिश्र-संस्कृत की रचनाएँ प्राय: गद्य पद्यमयी हैं। इनमें गद्य भाग अधिकांशत: संस्कृत एवं पद्य भाग (गाथाएँ) मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में रचित हैं, परन्तु गद्य भाग भी सर्वथा शुद्ध संस्कृत में न होकर मध्य भारतीय आर्य भाषा की विशेषताओं से युक्त संस्कृत में ही है। इसके अतिरिक्त इनमें बौद्धों के परम्परा प्राप्त पारिभाषिक शब्द भी विद्यमान हैं, जो उसी अर्थ में शुद्ध संस्कृत मे कभी प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इस भाषा में विरचित रचनाओं में महावस्तु, ललित-विस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, जातकमाला, अवदान शतक, दिव्यावदान आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर प्रसंग प्राप्त ललित-विस्तर की भाषा शैली पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया जाएगा।

मिश्र-संस्कृत (बौद्ध-संकर-संस्कृत) की विशेषताएँ

मिश्र संस्कृत के स्वरूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए इसकी व्याकरण सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के सन्दर्भ में उल्लेख करना आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं-

१. संस्कृत के संयुक्त व्यंजन मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में समीभूत होकर युग्म व्यंजन हो जाते हैं, किन्तु मिश्र-संस्कृत में कहीं-कहीं मध्य भारतीय आर्य भाषा में समीभूत हो जाते हैं और कहीं-कहीं संस्कृत के समान संयुक्ताक्षर भी मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप- संस्कृत का ''उच्यते'' तथा मध्य भारतीय आर्य भाषा का ''वुच्चति'' या ''उच्चति'', ये उभयविध रूप मिश्र संस्कृत में प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के ''वर्तते'' के लिए मिश्र-संस्कृत में ''वर्तति'' या ''वत्तति'' ये दोनों रूप मिलते हैं।

२. मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में अनुस्वार को छोड़कर समस्त पदान्त व्यंजन लुप्त हो जाते हैं, किन्तु मिश्र-संस्कृत में पदान्त व्यंजन प्राय: उपलब्ध होते हैं, जैसे- मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में ''पतितिट्ठ'' तथा ''परिन्दिता'' के रूप मिश्र संस्कृत में ''प्रतितिष्ठित्'' तथा ''परिन्दिता'' रूप उपलब्ध होते हैं।

३. मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के समान ही मिश्र-संस्कृत में कुछ स्थानों पर ऋ का अ, इ, उ तथा रि रूप भी मिलता है। उदाहरण के लिए संस्कृत का पद ''अमृत'' मिश्र संस्कृत में ''अमत'' हो जाता है। इसी प्रकार संस्कृत का ''ऋषि'' पद इस भाषा में ''इसि'' एवं ''रिसि'' तथा ''ऋतु'' पद ''उतु'' हो जाता है।

४. मिश्र-संस्कृत में संस्कृत की ही भाँति कहीं-कहीं ऋ भी लिखा जाता है तथा कभी-कभी संस्कृत के अ, इ, उ, ऋ के लिए भी इसमें लेखन प्रमाद के कारण ''ऋ'' लिखित प्राप्त होता है, जैसे- संस्कृत का ''मित'' मिश्र संस्कृत में ''मृत'' हो जाता है।

५. संस्कृत के ''अय्'' तथा ''अव्'' मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में ''ए'' तथा ''ओ'' हो जाते हैं। कुछ स्थानों पर ''अय्'' तथा ''अव्'' के रूप में भी उपलब्ध होते हैं, यथा- ''ध्ययति'' का ''धेति'' तथा ''भवति'' का ''भोति'' आदि।

६. संस्कृत के श्. ष्. स्. के स्थान पर मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में ''स'' पालि में ''श'' मिलता है। मिश्र-संस्कृत में उक्त तीनों ही रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनका व्यवहार संस्कृत के समान न होकर कुछ विश्रृंखलित रूप में प्राप्त होता है, जैसे-

१. 'स' के लिए कहीं पर 'श' तथा कहीं पर 'स' भी मिलता है।
२. 'श' के लिए 'स' तथा 'ष' भी मिलते हैं।
३. 'ष' के लिए 'श' तथा 'स' रूप भी मिलते हैं।

उदाहरण के लिए-

मिश्र संस्कृत		संस्कृत
निःशरण	=	निःसरण
त्रष्ट	=	त्रस्त
अद्रसुः	=	अद्रशुः (लुङ्)

७. मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में सन्धि में द्वितीय पद के आदि स्वर का लोप हो जाता है। यह विशेषता मिश्र संस्कृति में भी पायी जाती है, जैसे- संस्कृत में अहं + ति = अहमिति मिश्र संस्कृत में ''अहति'' हो जाता है।

८. संस्कृत के ''ऐ'' के लिए मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में ''ए'' रूप मिलता है, जबकि मिश्र संस्कृत में कहीं-कहीं संस्कृत ''ए'' के लिए ''ऐ'' रूप प्राप्त होता है, जैसे- संस्कृत का ''वेणु'' इसमें ''वैणु'' हो जाता है।

९. मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के समान यहाँ भी संस्कृत के पदान्त मकार का विकल्प से अनुस्वार हो जाता है। यथा, संस्कृत का ''जीवितम्'' इस भाषा में ''जीवित'' हो जाता है।

सत्ताईस परिवर्तो में विभक्त एक रमणीय ग्रन्थ, ललित विस्तर के प्रत्येक अध्याय में दो भाग हैं- गद्य भाग तथा पद्य भाग। ललित-विस्तर की परम्परा में पद्य ग्रन्थ स्मृत मूल रूप है। गद्य भाग में कही गयी बातों के प्रमाण में ही प्रायः पद्य भाग को उद्धृत किया गया है। ऐसी स्थिति में जो बातें (घटनाएं) गद्य भाग में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं उन घटनाओं की पद्य भाग में पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक है। ग्रन्थ का मूल वस्तुतः गाथाएँ ही हैं।

गद्य ग्रन्थ की भाषा लौकिक संस्कृत होते हुए भी उसमें अनेकों शब्द ऐसे मिलते हैं जो श्रौत-स्मार्त परम्परा में पले हुए विद्वानों के ग्रन्थों में नहीं मिलते। महाव्युत्पत्ति में ऐसे शब्दों का संकलन हुआ है। इस प्रकार के शब्द तथागत तथा उनके शिष्यों के प्रवचनों (उपदेशों) के आधार पर संकलित किए गये थे जो मूलतः उस भाषा में थे जिसे तथागत तथा उनके अनुयायी मध्य देश में चारिका करते हुए बोला करते थे।

पद्य ग्रन्थ पर संस्कृत का प्रभाव होते हुए भी वह लौकिक संस्कृत नहीं है। वह वस्तुतः तथागत तथा उनके अनुयायियों के द्वारा बोली जाने वाली भाषा का ऐसा संस्कृत रूप है जिसमें केवल संस्कृत लक्षण के आधार पर ही नहीं प्रत्युत प्राकृत लक्षण के आधार पर शब्द रूपावली तथा धातु रूपावली का विस्तार कर डाला गया है। इसके परिणामस्वरूप जो कुछ लौकिक संस्कृत में है, वह तो यहाँ पाया ही जाता है, इसके अलावा प्राकृत अर्थात् पालि तथा अन्य विविध मध्यम भारती के रूपों में जो कुछ पाया जाता है, उसका भी विकृत रूप में एक अंश यहाँ दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से ललित-विस्तर की भाषा में शब्द समूह तथा व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत लक्षण ही नहीं, प्रत्युत प्राकृत लक्षण

भी पाये जाते हैं।

एक संस्कृतज्ञ जब इस भाषा के अध्ययन और अध्यापन करने के लिए उद्यत होता है तो वह संस्कृत से तुलना किए बिना नहीं रह पाता। संस्कृत के पाणिनीय व्याकरण को स्थिर मानक मानकर ही वह पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषाओं को देखता है। इस दृष्टि से देखने से इस भाषा के अध्ययन के कुछ सूत्र स्पष्ट हो जाते हैं, जिनका निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

१. पदों में कहीं-कहीं शुद्ध संस्कृत की छाप है। उदाहरण ललित-विस्तर के तृतीय परिवर्त की दो गाथाओं से लिए गये हैं, यथा- शुद्ध-सत्त्व:, सनिषण्ण:, [illegible]: महायशोभि:, कतमत् कुलम्। इस प्रकार के पदों मे प्रकृतियाँ भी संस्कृत की हैं तथा प्रत्यय भी संस्कृत के हैं -

२. पदों में कहीं-कहीं प्रकृतियाँ तो संस्कृत की मिल जाती है, परन्तु प्रत्यय असंस्कृत (पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में) के होते हैं. उदाहरण स्वरूप - प्रासादि, धर्मोच्चयि, सुधर्मसिंहासनि। इनमें प्रकृतियाँ क्रमश: प्रासाद, धर्मोच्चय, सुधर्मसिंहासन। इनमें प्रकृतियाँ क्रमश: प्रासाद, धर्मोच्चय, सुधर्मसिंहासन तो संस्कृत की हैं, परन्तु साथ में सुनाई देने वाला इकार संस्कृत में नहीं सुनाई पड़ता। ये सभी रूप सप्तमी विभक्ति एकवचन के हैं। संस्कृत में प्रासादे, धर्मोच्चये, सुधर्मसिंहासने आदि एकारान्त रूप होते हैं। इसी प्रकार उपविष्टान्- इस पद में उपविष्ट प्रकृति तो संस्कृत की है, परन्तु प्रत्यय संस्कृत का नहीं है। इसी तरह सत्त्वेभि: पद में प्रकृति ''सत्त्व'' संस्कृत की है. प्रत्यय ''एभि'' का उद्‌भव यहाँ पालि अथवा प्राकृत के संसर्ग से आया हुआ है, क्रिया पदों की भी यही स्थिति है, जैसे- अभूषि। यहाँ प्रकृति ''भू'' तो संस्कृत की है, परन्तु प्रत्यय ''षि'' संस्कृत का नहीं है। ''अभूषि'' पद की तुलना हम पालि भाषा के ''अहोसि'' से किसी प्रकार कर सकते हैं, लेकिन वह संस्कृत के ''अभूत'' से काफी भिन्न है। यह पद अद्यतनी (लुङ्) का है और अपने आप में अद्वितीय है।

३. पदों में कहीं-कहीं प्रत्यय तो संस्कृत के मिलते हैं, परन्तु उनकी प्रकृतियाँ संस्कृत की नहीं होती। यथा- संप्रजानम्। इसमें प्रत्यय तो नपुंसक लिंग की प्रथमा विभक्ति का (म् - अम्) है, परन्तु प्रकृति ''संप्रजान्'' संस्कृत की नहीं है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के ''ज्ञा'' धातु से अवश्य है, परन्तु रूपपालि के ''संपजान'' से मेल खाता है। इस प्रकार की नाम प्रकृतियों तथा आख्यात प्रकृतियों का बहुत कुछ परिचय महाव्युत्पत्ति के अनुशीलन से हो सकता है।[७]

४. कुछ पदों में प्रकृतियाँ तथा प्रत्यय दोनों ही असंस्कृत के होते हैं। उदाहरण के रूप में तृतीय परिवर्त (कुल शुद्धि परिवर्त) के अन्तर्गत गाथा संख्या ५१ को लिया जा सकता है, यथा- दया सुता सा जननी च माया। यहाँ पर- ''दया'' पद ''अय'' का विकार है तथा ''सुता'' पद ''सुत:'' का विकृत रूप है। ''सुता'' पद में संस्कृत की

प्रकृति तो येन केन प्रकारेण बच गई पर दया में उसकी विकृति इस सीमा तक पहुँच गई कि उसे समझना कठिन हो जाता है। यहाँ पर भोट भाषा के अनुवाद का संस्कृत अनुवाद करें तो- ''अयं सुतः, सा जननी च माया'' - यह होता है।

५. कुछ स्थानों पर अविभक्तिक रूप भी दिखाई पड़ते हैं, यथा- शुद्ध। यह पद कुल का विशेषण है। अतः इसका सविभक्तिक पाठ ''शुद्धम्'' होना चाहिए। ''प्रतिरूप'' पद भी ऐसा ही है। इसे 'प्रतिरूपं' होना चाहिए।

६. पदों में नाना प्रकार के विपर्यास दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं-कहीं वचन-विपर्यास दिखाई पड़ता है, जैसे- ''माता-पिता कुत्र च शुद्ध भावाः''। इस पाठ में ''मातापितरौ च कुत्र शुद्ध भावौ'' इस प्रकार अक्षर विन्यास होना चाहिए। यहाँ द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया गया है। ''च'' पद का पाठ ''कुत्र'' पद से पहले होना चाहिए था। प्रत्यय-विपर्यास भी दिखाई पड़ता है, जैसे- ''बोधिसत्त्वे'' यह सप्तमी विभक्त्यंत पद है, परन्तु अर्थ के अनुसार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए था। अतः यहाँ पर ''षष्ठ्यर्थे सप्तमी'' मानना होगा। प्रकृति-विपर्यास भी दिखाई देता है, यथा- ''जन्मे''। यहाँ नकारान्त प्रकृति को अकारान्त मानकर विभक्ति-प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। शब्द-रूप विपर्यास यथा दीर्घस्वरान्त के स्थान में कभी-कभी ह्रस्वस्वरान्त का प्रयोग। लिंग-विपर्यास तो इस भाषा की साधारण बात है। इसके लिए तो संस्कृत में भी काफी अव्यवस्था परिलक्षित होती है। विभिन्न प्रकार के शब्द जो पुलिंग में प्रयुक्त होते हैं तथा नपुंसक लिंग में भी जिनका प्रयोग ठीक माना जाता है, वे सब शब्द. लिंग विषयक अव्यवस्था के ही फल हैं। सन्धि-नियमों का उल्लंघन भी काफी मात्रा में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सामान्यतया ललित-विस्तर की भाषा की व्याख्या की जा सकती है, लेकिन हमें ललित-विस्तर का जो रूप लैफमैन साहब के संस्करण में प्राप्त होता है तथा उसी का अंशतः जो विकृत रूप वैद्य महोदय के संस्करण में दिखता है, उससे हम शुद्ध पाठ पर नहीं पहुँच सकते, अतः ग्रन्थ अनेक स्थलों पर असंलग्न दिखाई पड़ता है।

अधिकांश बौद्ध काव्य कृतियों में गद्य-पद्यमयी नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है। ललित-विस्तर भी इसी शैली में रचित या संकलित है। यह इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इसके गद्य भाग शुद्ध संस्कृत के गौरवमय गद्य के निदर्शन हैं।[१]

उदाहरण-

एवं मया श्रुतम्। एकस्मिन्समये भगवान् श्रावस्त्यां विहरति स्म जेतवनेऽनाथपिण्डकस्यारामे महता भिक्षुसंघेन सार्ध द्वादशभिर्भिक्षुसहस्रैः। तद्यथा आयुष्मता च ज्ञानकोण्डिन्येन। आयुष्मता चाश्वजिता। आयुष्मता च वाष्पेण। आयुष्मता च महानाम्ना। आयुष्मता च भद्रिकेण। आयुष्मता च यशोदेवेन। आयुष्मता च विमलेन। आयुष्मता च सुबाहुना .... च बोधिसत्त्वसहस्रैः।

जिनसे प्रतिपाद्य का सुन्दर सम्पादन सम्भव है तथा इस प्रकार के गद्य भाग से ग्रन्थ,

का सौन्दर्य बढ़ा है। पद्य भाग मिश्र संस्कृत में विद्यमान प्राकृत की मधुरिमा से संवलित है, जो श्रोता-समाज के लिए ग्राह्य एवं अधिक हृदयावर्जक है। इनका यह स्वरूप चम्पू के रूचिर रूप का उद्भावक है। ललित-विस्तर नाटकीय गुणों से पूर्ण समवेत है। ललित-विस्तर में जहाँ एक तरफ दृष्टान्तमयी सरल शैली चार चाँद लगाती है, वहीं दूसरी ओर दर्शन शास्त्र के गम्भीर विषयों का सुगम एवं सरल रीति में सम्पादन करने में पूर्ण समर्थ तथा सफल है। इसमें काव्यों की उपदेश एवं प्रयोजन-प्रधान शैली सुहृत्सम्मित शैली का आदर्श प्रस्तुत करती है।

इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि ललित-विस्तर काव्य अधिक हृदयस्पर्शी है। इसमें स्वाभाविकता अधिक एवं कृत्रिमता कम है। दूसरे शब्दों में, उसमें भावपक्ष प्रधान कलापक्ष अप्रधान है, जो समुचित एवं स्वाभाविक है, क्योंकि जिन बौद्ध काव्यकारों ने काव्य को धर्म प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया है उन्हें काव्य में कला-प्रदर्शन से क्या प्रयोजन ? अतः इसमें शुद्ध वैदर्भी व्यवहृत हुई है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण युक्त इसमें दर्शन के रूक्ष रहस्यों का लौकिक दृष्टान्तों द्वारा पूर्णरूपेण सहज प्रतिपादन हुआ है। उपमानों की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की भव्यता, भाषा की सरलता एवं कथन की मधुरता ललित-विस्तर की भाषा-शैली के विशिष्ट गुण हैं।

ललित-विस्तर में पाण्डित्य प्रदर्शन के भाव परिलक्षित नहीं होते। सरल एवं स्वाभाविक शब्दों द्वारा नाटकीय एवं उपदेशमयी शैली में उदात्त भावों की अभिव्यक्ति हुई है। कृत्रिमता का सर्वथा अभाव ही दिखाई पड़ता है। इसकी काव्यमयी शैली पाञ्चाली है, जिसमें प्रसंगानुसार सरल एवं कठिन पद-योजना हुई है। इस सन्दर्भ में इसकी तुलना रूद्रदामन सदृश अभिलेखों, बाण सदृश गद्य काव्यकार एवं त्रिविक्रम सदृश चम्पू काव्यकार से की जा सकती है, जिसमें गद्य के यदि कहीं-कहीं विशद समस्त पद परिलक्षित होते हैं तो कहीं-कहीं असमस्त पदों द्वारा मनोज्ञ भावों की अभिव्यंजना हुई है, किन्तु सुबन्धु अथवा बाण सदृश श्लिष्ट शैली का सर्वथा अभाव है। महावस्तु की अपेक्षा यह अधिक परिष्कृत एवं प्राञ्जल भाषा में उपनिबद्ध है। उदाहरण के लिए कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रथम परिवर्त में ग्रन्थ के विषय-निर्देश के अवसर पर एक ही वाक्य अनेक पंक्तियों में उपनिबद्ध है-

अस्ति भगवन् ललित-विस्तरो नाम धर्मपर्यायः सूत्रान्तो महावैपुल्यनिचयो बोधिसत्त्व-कुशलमूलसमुद्भावनः तुषितवरभवनविकिरणसंचिन्त्यावक्रमणविक्रिडनगर्भस्थानविशेषसंदर्शनोऽभिजातजन्मभूमिप्रभाव संदर्शनः सर्वबालचर्यागुणविशेषसमतिक्रमसर्वलौकिकशिल्पस्थान-कर्मस्थानलिपिसंख्यामुद्रागणनासिधनुकलापयुद्धसालम्भसर्वसत्त्वप्रतिविशिष्ट संदर्शनान्तःपुरविषयोपभोग- संदर्शनः सर्वबोधिसत्त्वचरिनिष्पन्दनिष्पत्तिफलाधिगमपरिकीर्तनो बोधिसत्त्व-विक्रीडितः सर्वमारमण्डलविध्वंसनः तथागतवालवैशारद्याष्टा दशांवेजिकसमुच्चयोऽप्रमाणबुद्ध धर्मनिर्देशः पूर्वकैरपि तथागतैर्भाषितपूर्वः।

-ललित-विस्तर, निदान परिवर्त, पृ. ३-४

इस प्रकार के सुन्दर एवं समस्त पद से युक्त गद्य के उदाहरण सप्तम परिवर्त में भी परिलक्षित होते हैं।[२१] इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में असमस्त गद्य के भी यत्र-तत्र दर्शन होते हैं और ऐसे गद्य के भी कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत करना प्रासंगिक जान पड़ता है- कतमैश्चतुषष्ट्याकारैः ? तद्यथा। अभिज्ञातं च तत्कुलं भवति। अक्षुद्रानुपघाति च तत्कुलं भवति। जातिसंपन्नं च तत्कुलम् भवति। गोत्रसंपन्नं च तत्कुलं भवति। पुर्वपुरुषयुगसम्पन्नं च तत्कुलं भवति। अभिलक्षितपुरुषयुगसम्पन्न च तत्कुलं भवति। महेशाख्यपुरुषयुगसम्पन्नं च तत्कुलं भवति। बहुस्त्रीकं च तत्कुलं भवति। बहु पुरुषं च तत्कुलं भवति। अभीत च तत्कुलं भवति। अदीनालीनं च तत्कुलं भवति।

-ललित-विस्तर, कुलशुद्धि परिवर्त पृ. १६

षष्ठ परिवर्त में बुद्ध की अलौकिक गर्भावक्रान्ति के पश्चात् माया देवी का प्रभाव अतुलनीय हो जाता है। ऐसे अवसर पर छोटे-छोटे असमस्त पदों का दृष्टान्त निम्नोद्धृत गद्यांश प्रस्तुत कर रहा है- ये च केचिन्नानारोगस्पृष्टाः सत्वा भवन्ति स्म, वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजैः रोगैः पीड्यन्ते स्म, चक्षुरोगेण वा श्रोत्ररोगेण वा घ्राणरोगेण वा जिह्वारोगेण वा ओष्ठरोगेण वा दन्तरोगेण वा कण्ठरोगेण वा गलगण्डरोगेण वा उरगण्डकुष्ठकिलासशोषोन्मादापस्मारज्वरगलगण्डपिटक विसर्पविचर्चिकाद्यैः रोगैः संपीड्यन्ते स्म, तेषां बोधिसत्त्व माता दक्षिणपाणि मूर्ध्नि प्रतिष्ठापयति स्म। ते सह प्रतिष्ठापिते पाणौ विगतव्याधयोभूत्वा स्वकस्वकानि गृहाणि गच्छन्ति स्म। अन्ततो मायादेवी तृणगुल्मकमपि धरणितलादभ्युत्क्षिप्य ग्लानेभ्यः सत्त्वेभ्योऽनुप्रयच्छति स्म। ते सहप्रतिलम्भादरोगनिर्विकारा भवन्ति स्म।

-ललित-विस्तर, गर्भावक्रान्ति परिवर्त, पृ. ५३.

ललित-विस्तर में 'चम्पू शैली' का रूप देखने को मिलता है। गद्य की अधिकांश बातें पद्य में दोहराई गई हैं। विषय को अच्छी तरह से समझने के लिए गद्य की आवश्यकता होती है. किन्तु उसे मानस पटल पर स्थायी बनाने के लिए पद्य की प्रमुख भूमिका होती है। पद्य अपनी गेयता गुण के कारण मानव हृदय को अपनी ओर सहजरूप में ही आकृष्ट कर लेता है। बौद्ध धर्म के विकास-युग में ज्ञान का आदान-प्रदान मौखिक रूप से ही होता था, अतः पद्य का विशेष महत्व था।

ग्रन्थ में विस्तार बहुल शैली का प्रयोग हुआ है। एक ही घटना को या तथ्य को कई बार दुहराया गया है जिसके फलस्वरूप पाठकों को अरूचि हो जाती है, परन्तु इस दृष्टि से देखने पर कि ग्रन्थ का मूल उद्देश्य धर्म-प्रचार और धर्मोपदेश है तो इस शैली का औचित्य सार्थक प्रतीत होता है। मौखिक उपदेशों के द्वारा विषय को जनसामान्य को अवगत कराने के लिए इस शैली का प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

(ख) ललित-विस्तर में रसोद्भावना

ललित-विस्तर का मूल उद्देश्य तथागत के जीवन की क्रीड़ाओं का विस्तारपूर्वक

वर्णन प्रस्तुत करने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य भी है। इस दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ एक अद्वितीय कृति है। इस ग्रन्थ में शान्त रस की ही प्रधानता लक्षित होती है। ललित-विस्तर में सर्वत्र आध्यात्मिक भाव ही परिदृश्यमान होते हैं। शान्त रस के सन्दर्भ मे षोडश, सप्तदश एवं अष्टादश परिवर्त विशेष उल्लेखनीय हैं। इस ग्रन्थ में धर्माचरण पर विशेष बल दिया गया है।[११] संसार में यह बात सत्य है कि धर्म-ज्ञानप्रकाश के बिना अविद्या-अज्ञानादि रूपी अन्धकार का विनाश सम्भव नहीं है, जैसाकि ललित-विस्तर के सातवें परिवर्त में उल्लिखित है।[१२]

दुःखरूपी सिन्धु के पार जाने के लिए सद्धर्मरूपी नौका के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।[१३] इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में मंगलमयी भावनाओं से परिपूर्ण अनेक गाथायें उपलब्ध होती हैं।[१४]

ग्रन्थ में शान्त रस की प्रधानता होते हुए भी अन्य रसों का समावेश नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं है। शान्त रस ग्रन्थ का अंगी रस है इसके अंगरूप में करूण, भक्ति, श्रृंगार, अद्भुत, वीर, विभत्स, वात्सल्य आदि रसों की भी अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। निम्न गाथा, करूण रस की सुन्दर अभिव्यंजना कराती है-

सर्व व्याकुलमासि तच्च नगरं निद्राभिभूतं भृशं,
नो नृते न च गायिते न रमिते भूयो मनः कस्यचित्।
राजापि परमं सुदीनमनसः चिन्तापरो ध्यायते,
हाधिक्शाक्यकुलस्य ऋद्धि विपुला मा हैव संघदक्ष्यते।।[१५]

इसके अतिरिक्त अभिनिष्क्रमण परिवर्त करूण रस से ओत-प्रोत है। तथागत के गृह-त्याग के पश्चात् गोपा-विलाप इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है, यथा-

हा कण्ठका सुजाता मम भर्तुसद्वायकस्त्वया क्व नीतो।
हा छन्दका निकरूणा न बोधयसि गच्छमानके नखरिष्ठे।।
गच्छत्ययं हितकरो एका गिर तस्मिन्नन्तरि नभसि कस्मात्।
इतु अद्य पुरवराते गच्छति नरदम्यसारथिः कारूणिकः।।[१६]

अपि च-

दृष्ट्वा तु राजा हयवरू छन्दकं च
उत्क्रोसु कृत्वा धरणि तले निरस्तो।
हा मह्य पुत्रा सुकुशलगीत वाद्या
वच त्वं गतोऽसी विजहिय सर्वराज्यं।।[१७]

भक्ति रस महायान का दूसरा प्रधान रस है। इस ग्रन्थ में भक्ति रस[१८] से ओत-प्रोत अनेक स्थल परिलक्षित होते हैं। निम्न गाथा में भक्ति रस की अभिव्यक्ति ललित पदों में हुई हैं-

शीलश्रुतिसमाधिप्रज्ञाकरा ज्ञानकेतुध्वजा,
जरामरर्णानिघाति वैद्योत्तमा लोकचक्षुर्ददा।
त्रिमलखिलप्रहीण शान्तेन्द्रिया शान्तचित्ता मुने,
शरणं तवमुपेम शाक्यर्षभा धर्मराजा जगे॥[१९]

श्रृंगार तो रस-राज है। अत: ऐसे रस-राज की अभिव्यंजना कहाँ नहीं होगी? यह बात अवश्य है कि इसकी अभिव्यंजना मे पद्धति एवं लक्ष्य का भेद होता है। ललित-विस्तर में भी अनेक श्रृंगारिक वर्णन प्राप्त होते हैं।[२०] इस प्रसङ्ग में मार-दुहिताओं की आकर्षक पदावलियाँ दर्शनीय हैं-

परिपूरितचन्द्रनिभाननिका बिम्बसुपक्वनिभाधरिका।
शङ्खकुन्‍ डहिमशुक्लसुदन्तिनिका प्रेक्ष कान्त रतिलालसिकां॥
कनिठपीनपयोधर उद्‌गतिकां त्रिवलिकृतमध्यसुसुन्दरिकां।
जघनाङ्गनचारूसुरित्थिरिकां प्रेक्षसु नाथ सुकामिनिकां॥
-ललित-विस्तर २१ / ९४, ९५

वीभत्स रस[२१] का भी अभिनिष्क्रमण परिवर्त की निम्न गाथाओं में अवलोकन किया जा सकता है, यथा-

कर्मक्षेत्र रूहं तृषासलिलजं सत्कायसंज्ञीकृतं,
अश्रुस्वेदकफार्द्र मूत्रविकृतं शोणितविन्दवाकुलं।
वस्तीपूयवसासमस्तकरसै: पूर्ण तथा किल्विषै
नित्यप्रश्रवितं ह्यमेध्य सकलं दुर्गन्ध नानाविधं॥

अपि च

अस्थि दन्तसकेशरोम विकृतं चर्मावृतं लोमसं
अन्त:प्लीहः जकृद् वपोष्णरसनैर एभिश्चित दुर्बलै।
मज्जास्नायुनिवद्धयन्त्रसदृशं मांसेन शोभीकृतं
नानाव्याधिप्रकीर्णसोत्कलिलं श्रुत्तर्षसंपीडितं।
जन्तूनां निलयं अनेकसुषिरं मत्युंजरां चाश्रितं,
दृष्ट्वा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकं॥

इन सब रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, वीर, अद्‌भुत आदि रसों की भी ग्रन्थ में कहीं-कहीं अभिव्यंजना हुई है। वात्सल्य रस की अभिव्यंजना महाराज शुद्धोधन की तथागत के प्रति इन क्रिया-कलापों में पूर्णरूपेण स्पष्ट है-

आज्ञाप्तो युवती जनश्च सततं संगीति मा छेत्स्यथा,
वस्थानं प्रकरोथ क्रीडरतिभि: निर्वन्धया मानसं।
ये वा इस्त्रिय माय नेक विविधा दर्शेभ चेष्टां बहुं
आरक्षां प्रकरोथ विघ्नं कुरूथा मा खु व्रजेत् सूरत:॥[२२]

(ग) छन्द

ललित-विस्तर में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि इसे एक महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है, परन्तु यह ग्रन्थ महाकाव्य के लक्षण की कसौटी पर पूर्ण खरा नहीं उतरता। कुछ अर्थों में इसे महाकाव्य कह सकते हैं, लेकिन प्रत्येक दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है। प्रायः महाकाव्य सर्गो में निबद्ध होता है प्रत्येक सर्ग में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग पाया जाता है। अन्तिम के कुछ अंश कहीं-कहीं दूसरे छन्द में रचित प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत इस ग्रन्थ में एक ही परिवर्त में अनेक छन्दों की रचना प्राप्त होती है।

ललित-विस्तर में कुल मिलाकर लगभग पचास छन्दों का प्रयोग पाया जाता है, जिनमें अधिकांश प्रचलित छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। कुछ स्थानों पर अप्रचलित छन्दों का भी प्रयोग प्राप्त होता है। प्रचलित छन्दों में-

वसन्त तिलका, उपजाति, आर्या, शार्दूलविक्रिडति, पुष्पिताग्रा, दोधक, मालिनी, दण्डक, त्रोटक, वंशस्थ आदि छन्दों का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त- प्रमिताक्षरा, रथोद्धता, पंच चामर, अष्टादशाक्षरा (वनमाला), सप्तदशाक्षर अत्यष्टि जातीय, मट्टोपजाति, प्रहर्षिणी, वेगवती, औपछन्दसिक, भ्रमर विलसित, मात्रा समक (चौपाई), शशिकला (शरभ), रोला, पंचमार, वैतालिक, शालिनी, द्रुतविलम्बित, षट्पदी, उपजाति-वंशस्थ तथा इन्दवज्रा का मिश्रण, रूचिरा, गाथा, गाथा षोडशाक्षरी अष्टिजातिया, अतिजगति जातिया, भुजंग प्रयात, मोदक (द्रुत-विलम्बित भगणारब्ध), गाथा (यगणान्तक चन्द्र वर्त्म) तूणक, चतुर्दशाक्षरी, वंशपत्रपतित, गाथागद्यगति, भुजंगविजृम्भित, षोडशाक्षरी, उपजाति, जाग्रत तथा त्रैष्टुभ का सम्मिश्रण, अष्टादशाक्षरी आदि छन्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।

यहाँ पर कुछ ऐसे छन्दों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनका प्रयोग ग्रन्थ में बहुतायत से हुआ है।

१. वसंत तिलका

इस छन्द का प्रयोग ग्रन्थ में सबसे अधिक स्थानों पर हुआ है। इसका लक्षण- "उक्तावसन्ततिलका तभजा जगौ गः" अर्थात्- वसन्त-तिलका के प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण और अन्त में दो गुरू होते हैं। इसके प्रत्येक पाद में १४ अच्छर होते हैं। उदाहरण ललित-विस्तर के प्रचल परिवर्त से उद्धृत किया जा रहा है[२३]-

गृहणामि देव व्रत शीलवरोपवास
अष्टांगपोषधम हं जगि मैत्र चिन्ता।
प्राणेषु हिंसविरता सद् शुद्धभावा
प्रेमं यथास्मनि परेषु तथा करोमि॥

यह छन्द ललित विस्तर में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।

२. आर्या[२४]

इस छन्द का प्रयोग ग्रन्थ में संख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर हुआ है। इसके प्रथम तथा तृतीय पाद में १२ मात्राएँ होती है, द्वितीय में १८ एवं चतुर्थ में १२ मात्राएँ होती हैं।

उदाहरण-

स्मरं विपुलनिर्मलमनस् त्रिमलमलप्रहीन शान्तमददोषं
शुभविमलशुद्धचित्ता, दानचरी यादृशा ति पुरे॥

- ललित-विस्तर २/१५

इस छन्द में गण मात्रा के हिसाब से नियमित किए जाते हैं। यह छन्द जाति के नाम से भी जाना जाता है। इसके नौ भेद हैं। इसका प्रयोग ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर हुआ है।

३. शार्दूल विक्रीडति

लक्षण- ''सूर्याश्वैर्यदि. म-सजौ सततगा शार्दूलविक्रिडितम्''- शार्दूल विक्रीडित के प्रत्येक चरण में मगण, जगण, सगण, जगण, सगण, तगण और तगण के बाद अन्त में एक गुरू अक्षर होता है। बारहवें अक्षर के बाद पहली यति, फिर सातवें अक्षर के बाद दूसरी यति होती है, उदाहरण-

दृष्ट्वा देवगणान् नभस्तलगतान् बुद्ध श्रवोद्गारिणो,
देवर्षिरसितोऽद्रिकन्दर गतः प्रीतिं परां प्राप्तवान्।
बुद्धोनाम पदं किमेतदिह भोः हर्षावहं प्राणिनां,
प्रहलादं मम काय एति सुखितं शान्तं च चित्तं परं॥

- ललित-विस्तर, ७/२४५

यह छन्द ललित-विस्तर में बहुलता में पाया जाता है।[२५]

४. पुष्पिताग्रा

''अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि न नजो जरगाश्च पुष्पिताग्रा'' - पुष्पिताग्रा[२६] के प्रथम तथा तृतीय चरण में नगण, नगण, रगण, यगण (१२ अक्षर) और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में नगण, जगण, जगण, रगण और एक गुरू होते हैं (१३ अक्षर) यथा-

''अमरपुरगतान अप्सराणां रूप मनोरम दृष्ट्वा बोधिसत्त्वे,
मतिरियमभवत्तदा हि तासां प्रमद नु कीदृश बोधिसत्त्वमाता॥

- ललित विस्तर, ५/१२०

५. मालिनी

ननमयययुतेयं मालिनी भोग लोकैः।

मालिनी[२७] के प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण तथा यगण होते हैं। आठवें तथा सातवें अक्षर पर यति होती है, जैसे-

> व्रततपगुणयुक्तस् तिसुलोकेषु पूज्यो,
> मैत्रकरूणलाभी पुण्यज्ञानाभिषिक्तः।
> तुषितपुरि च्यवित्वा बोधिसत्त्वो महात्मा,
> नृपति तव सुतत्वं माया कुक्षोपपन्नः॥

-ललित विस्तर, ६/१५९

६. प्रहर्षिणी[२८]

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्"- प्रहर्षिणी के प्रत्येक चरण में मगण, नगण, जगण, रगण और अन्त में एक गुरू अक्षर होता है,

उदाहरण-

> "व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि
> व्यामाभं शुभवरलक्षणाग्रधारि।
> ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्र पुत्रं
> सिद्धार्थ न ज़हति सैव वृक्षछाया॥"

-ललित-विस्तर, ११/३२०

७. वंशस्थ[२९]

"जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं जरौ"

इस छन्द के प्रत्येक पाद में जगण, तगण, जगण तथा रगण रहते हैं। प्रत्येक पाद में १२ अक्षर होते हैं, उदाहरण-

> यथा च पुत्रो मम भुषितो गुणैः
> तथा च कन्या स्वगुणा प्रभासते।
> विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ,
> समेति सर्पिर्यय सर्पिण्डे॥

- ललित-विस्तर, १२/३८४

इन छन्दों के अलावा उपजाति नामक छन्द ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर आया है[३०] तथा अन्य छन्दों का प्रयोग ग्रन्थ में कुछ स्थानों पर किया गया है। दो छन्दों का मिश्रण एवं तीन-तीन छन्दों का भी मिश्रण कुछ छन्दों में प्राप्त होता है।

इस प्रकार से ललित-विस्तर में प्रचलित एवं अप्रचलित दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत छन्दों के अलावा पालि प्राकृत के भी छन्द उपलब्ध होते हैं।

(घ) अलंकार

ललित-विस्तर अलंकृत रचना नहीं है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें अलंकारों का पूर्णरूपेण अभाव है; कुछ स्थानों पर अलंकारों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में कहीं-कहीं अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकार के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। शब्दाडम्बर और अर्थाडम्बर रहित रचना होने के कारण इस ग्रन्थ में वर्णित भावों की अवगति में दुरूहता की अनुभूति कभी नहीं होती।

ललित-विस्तर के पद्य भाग में सरस एवं सरल अलंकृत पदों के विन्यास दर्शनीय हैं। शब्दालंकार में अनुप्रास[३१] के सुन्दर दृष्टान्त अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं, उदाहरण-के लिए ललित-विस्तर के ''प्रचल परिवर्त'' में आपसी विचार-विमर्श के समय कौन ऐसा है जो बोधिसत्त्व के साथ जन्म लेकर उनके साथ रहते हुए उनकी लीला का रस पान करेगा, इसी सन्दर्भ में देवताओं द्वारा उक्त निम्न गाथा द्रष्टव्य है-

> ''रागप्रहाणु तथ दोषमपी यो इच्छते तथ किलेशजहं।
> शान्तप्रशान्तउपशान्तमना सो दान्तचित्तमनुयातु लघुं।।''

-ललित-विस्तर, ५/२८

इसी प्रकार संचोदना नामक परिवर्त में अमरों द्वारा बुद्ध से सांसारिक जीवन के त्याग का अनुरोध उसकी असारता दिखलाते हुए किया गया है-

> ''जर रूपसुरूपविरूपकरी जर तेजहरी बलस्यामहरी।
> सह सौख्यहरी· परिभावकरी जर मृत्युकरी जर ओजहरी।।''

- ललित-विस्तर १३/८५

अनुप्रास का कमनीय उदाहरण देव, नाग, यक्ष एवं गन्धर्वो के पारस्परिक वार्तालापमयी इस गाथा में परिदृश्यमान है-

> ''रत्नाकरो रत्नकेतु रतिस्त्रिलोके रत्नोत्तमो रत्नकीर्ति रत: सुधर्मे।
> रत्नानि त्रीणि न च छेत्स्यति वीर्यप्राप्त: सो बोधिप्राप्स्यति वरामिय तस्य पूजा।।''

-ललित-विस्तर, २०/२३

अर्थालंकारों में उपमा[३२], रूपक[३३] आदि अलंकारों के कुछ दृष्टान्त दृष्टिगत होते हैं। दुष्कर चर्या परिवर्त में दृढ़ ध्यानस्थ बुद्ध की उपमा मेरू से दी गई है-

> ''न च आतपातु छायां छायाया नातपं गतश्चासौ।
> मेरूरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम्।।''

- ललित विस्तर, १७/२९

अपि च

"गजभुजसदृशेऽस्य ऊरूजघं जातु सुजान्व् अनुपूर्वमुदगतास्य।
करतलचरणा समा सुरक्ता व्यक्तमियं खलु देवकन्यनान्या॥"

- ललित-विस्तर, ५/५५

इसी प्रकार इस संसार में रहते हुए भी सदा लोक धर्मों से ऊपर बुद्ध की समता जलस्थ पंकज से की गई है-

"उद्गतस्त्वं महाप्राज्ञो लोकेष्वप्रतिपुदगलः।
लोकधर्मैरलिप्तस्त्वं जलस्थमिव पंकजः॥"

- **ललित-विस्तर २३/४**

ललित-विस्तर में यत्र-तत्र रूपकालंकार के भी सुन्दर दृष्टान्त देखे जा सकते हैं-

"इह मय किलेशगहना संकल्पविरूढमूल भववृक्षाः।
स्मृतिपरशुना अशेषा छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धा॥
इह मे प्रज्ञाचक्षुर्विशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्त्वानाम्।
ज्ञानान्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नम्॥
इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कसामो महामदनवह्निः।
निर्वापितोऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततयोयेन॥
इह रागमदनमकरं तृष्णोर्मिजलं कुदृष्टिसंग्राहम्।
संसारसागरमहं संतीर्णो वीर्यवलनावा॥

- **ललित-विस्तर २४/३०, ३४, ३६, ४८**

ललित-विस्तर के गद्य भाग अनलंकृत नहीं है। कहीं-कहीं इसके गद्य भाग - भी यत्र-तत्र अनुप्रासादि से अनुगमित हैं। उदाहरण के रूप में धर्मचक्र प्रवर्तन परिवर्त से निम्न गद्यांश उद्धृत किया जा सकता है-

अकम्पत् प्राकम्पत् संप्राकम्पत्। अवेधत् प्रावेधत् संप्रावेधत् अचलत् आचलत्, संप्राचलत्। अक्षुभ्यत् प्राक्षुभ्यत् संप्राक्षुभ्यत्। अरणत्, प्रारणत् संप्रारणत्। अगर्जत् प्रागर्जत् संप्रागर्जत्। अन्तेऽवनमति स्म मध्येऽन्नमति स्म। मध्येऽवनग्रति स्म अन्ते अ उन्नमति स्म।

- **ललित-विस्तर २६/ पृ. २९९**

इसी प्रकार अर्थालंकार में उपमा का एक उदाहरण जन्म परिवर्त के गद्य भाग से लिया गया है, जो इस प्रकार है-

अथ च तस्मिन्न समये बोधिसत्त्वः सिंह इव विगतभयभैरवोऽसंत्रस्त अस्तम्भी सुचिन्तितं स्मृत्वा चिन्तयित्वा सर्वसत्वानां चित्तचरितानि ज्ञात्वा अपरिगृहीतो बोधिसत्त्वः पूर्वा दिशमभिमुखः सप्तपदानि प्रकान्तः पूर्वगमो भविष्यामि सर्वेषां कुशलमूलानां धर्माणाम्।

(ङ) प्रकृति-चित्रण

प्रकृति काव्य का अभिन्न अंग मानी जाती है और उसका चित्रण प्रायः सभी कृतियों में हुआ करता है। ललित-विस्तर में वर्णित प्रकृति भी अपने सजीव रूप में दृष्टिगोचर होती है। ललित-विस्तर में वर्णित प्रकृति में भी सुखदुःखात्मक भाव वैसे ही परिदृश्यमान होते हैं, जिस प्रकार कालिदास, भवभूति आदि मूर्धन्य महाकवियों की रचनाओं में दृष्टिगत होते हैं। बोधिसत्त्व से विरहित स्थावर जंगम सभी में शोक छा जाता है-

उद्यान सर्वे अफल अपत्रपुष्पा
हारा विशुद्धा तमरजपांशुतुल्याः।
वेस्मं न शोभी अटवि पुरं प्रकासं
यत्तेन त्यक्तं नरवर पुंगवेन॥

- ललित-विस्तर (शास्त्री) १५/६९२

इसके विपरीत ललित-विस्तर में प्रकृतिगत हर्ष की अभिव्यक्ति भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। तथागत जन्म-वर्णन के सन्दर्भ में यह गाथा प्रकृतिगत हर्ष के दृष्टान्त रूप में उदाहृत है-

यथ द्रुम परिफुल्ल संपुष्पिता शालवृक्षा इमे,
यथ च मरूसहस्र पार्श्वे स्थिता भ्रामयन्तो भुजान्।
यथ च चलि ससागरा मेदिनी षड्विकारा इयं,
दिवि भुवि च विघुष्ट लोकोत्तरं त्वं जनेषी सुतं॥

- ललित-विस्तर (शास्त्री), ७/२१५

और भी-

आभेयं प्रविराजते सुरूचिरा प्रह्लादयन्ती तनुं,
जाताश्चैव तथा हि शैलशिकरे स्निग्धाः प्रवालाङ्कुराः।
वृक्षाश्चैव यथा सुपुष्पभरिता नानाफलैर्मण्डिताः
सुव्यक्तं त्रिभवे भविष्यति लघु रत्नोद्भवः शोभनः॥
भूमिर्भाति यथा च पाणिसदृशा सर्वा समा निर्मला,
देवाश्चैव यथा प्रहृष्टमनसः खे भ्रामयन्त्यम्बरान्।
यद्वत् सागरानागराजनिलये रत्नाः प्लवन्तेऽद्भुताः,
सुव्यक्तं जिनरत्न जम्बुनिलये धर्माकरस्योद्भवः॥

- ललित-विस्तर (शास्त्री) ७/२४७-२४८

अपि च-

यथा संपुष्पिता: शाला मेदिनी च समा स्थिता।
ध्रुवं सर्वजगत्पूज्य:, सर्वज्ञोऽयं भविष्यति॥
यथा च मृदुकावाता दिव्यगन्धोपवासिता:।
शमेन्ति व्याधिं सत्त्वानां वैद्यराजो भविष्यति॥

- ललित-विस्तर (शास्त्री) ७/२३८,२४०

इसी प्रकार से अनेक स्थानों पर प्रकृति का मनोरम वर्णन ललित-विस्तर में प्राप्त होता है।



धर्मचक्रप्रवर्तन, सहरी बहलोल ।- 3

सन्दर्भ-सूची

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पार्ट २, पृष्ठ-२६०

२. ''धम्म-पद'' बी.एम्. वरुआ एवं एस. मित्र द्वारा सम्पादित द्वितीय प्रकाशन, १९७१, तथा सेनार्ट द्वारा, जे.ए.एस., १११२.१९३,१८९८ में प्रथम प्रकाशन एवं एक अन्य प्रकाशन एच. डब्ल्यू वैले द्वारा, पृ. ४८८-५१२ में हुआ।

३. ला लेजेन्डे डे लेम्परर अशोका, पृ. १६६

४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४९१, बुद्धिस्ट फिलासफी (१९२३)

५. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पार्ट २, पृ. २४७, बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत ग्रामर एण्ड डिक्शनरी, वालूम १, पृष्ठ ५

६. यहाँ पर ललित-विस्तर परिवर्त ३ की दो गाथाओं को संस्कृत छाया के साथ दिया जा रहा है –

मूल	संस्कृत
प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्ध सत्वः	प्रासादे धर्मोच्चये शुद्ध सत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि सनिषण्णः।	सुधर्मसिंहासने सनिषण्णः।
सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः	सभाग्यदेवैः परिवारित ऋषिः
संबोधिसत्त्वभि महायशोभिः॥ १॥	संबोधिसत्त्वैर्महायशोभिः॥ १॥
तत्रोपविष्टान अभूषि चिन्ता	तत्रोपविष्टानाम् अभूत् चिन्ता
कतमत्कुलं शुद्ध सुसंप्रजान।	कत् मत् कुलं शुद्धं सुसंप्रज्ञानम्।
यद् बोधिसत्त्वे प्रतिरूप जन्मे	यद् बोधिसत्त्वस्य प्रतिरूपं जन्मनि
मातापिता कुत्र च शुद्धभावाः॥ २॥	माता पितरौ कुत्र च शुद्धभावौ॥ २॥

-वैद्य संस्करण – १९५८

७. बुद्धिस्ट हायब्रिड संस्कृत ग्रामर एण्ड डिक्शनरी (इजर्टन)

८. यथा च माया प्रतिरूप भाजनं, यथार्थसत्त्वः परमं विराजते पश्येत् एताव अधिक गुणान्विता, दया सुता सा जननी च माया।- ललित विस्तर-परिवर्त्त ३ (कुलशुद्धि परिवर्त) गा.सं. ५१, पृष्ठ ८१. शान्ति भिक्षु शास्त्री।

९. ललित विस्तर, प्र.प., पृष्ठ १-४, ७-८

१०. योऽसो मार्षा असंख्येकल्पकोटिनियुतशतसहस्र- सुकृतकर्मदानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञोपायश्रुतचरणव्रततपः सु चरितचरणः महामैत्रीमहाकरूणामहामुदितासमन्वागतः उपेक्षासमुद्गतिचित्तः सर्वसत्त्वहितसुखोद्यतः दृढ़वीर्यकवचसुसंनादृसंनद्धः पूर्वजिनकृतकुशमेलोदितः शतपुव्यलक्षणसमलंकृतः सुकृतनिश्चयपराक्रमः परचक्रप्रमथनः सुविमलशुद्धाशयसम्पन्नः सुचरितचरणौ महाज्ञानकेतुध्वजमा खलान्तकरणः त्रिसाहस्रमहासाहस्रसार्थवाहः देवमनुष्यपूजितमहायज्ञयष्टः सुसमृद्धपुण्यनिचयनिःसरणाथिप्रायो जातिजरामरणान्तकरः सुजातजातः इक्ष्वाकुराजकुलसंभूतोजगद्विबोधयिता बोधिसत्त्व मनुष्यलोक उपपन्नः।

-ललित विस्तर, जन्म परिवर्त, पृ. ७९

११. तस्मात्सहितसमग्रा अन्योन्यं मैत्रचित्त हितचित्ताः।
धर्मचरणं चरेथाः सुचरितचरणा न तप्यन्ते॥

-ललित-विस्तर (वैद्य), ४/९

१२. भित्त्वा अभिद्यपटलं महाक्लेशधूमं पर्युत्थिता जनतये नियतप्रकाशे।
ज्ञानार्चिप्रज्ञप्रभविद्युविलोकितेन सर्व जगे विधमये महदन्धकारम्॥

-वही, ७/९५

१३. वही, १३/२४

१४. वही, ७/४५-५४

१५. ललित-विस्तर, १४/२१

१६. ललित विस्तर अभिनिष्क्रमण परिवर्त--
१५/१३० और ११२, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०.

१७. ललित-विस्तर, १५/१११

१८. वही, २३/४१, ४५, ६५, २३/५१

१९. वही, २३/४७

२०. वही, २१/९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९, ११०, १११, ११४, ११६, ११८.

२१. ललित-विस्तर (वैद्य), १५/२८, २९

२२. ललित-विस्तर (वैद्य) १४/१८ और भी – १४/१६, १७, १५/११, १२, १३

२३. ललित-विस्तर-वसन्ततलिका - क्रम सं. ७५-८९, ११०-११९, २६५-२८६, २८७-२८९, २९१-३०१, ३२१-३३८, ३४१-३५४, ३६१-३६३, ३६७-३६९, ३७७-३८३, ५४५-५५९, ५८४-६०१, ६४०-९१०, १८, ३६, ३७-५०, ९६१-६७, ९८१-९८३, ९८५, १०२४, १०६७-७२, ११०८-१११२, १४ ३८, ४०-८३, ५४-५८, १४४६-४९-६० आदि।

२४. आर्या – क्रमसंख्या – १४-३३, ५४-७४, ५२५-५४४, ६०२-६११, ६२६-६४१, ७११-२६, ७९०-८२०, १००१-१०१९, १२२९-१३११, १४००-१४०३, १४२६-३७ आदि।

२५. शार्दूलविक्रीडित – ७/२४६-२६५, २९०-९१, ५६०-५७१, ६१९-२०, ६५४-६६५, ८४३-५०, ८५१-५६, ८७७-९१, ९०८-९, ११, १३, १४, १०९८-११०५०, ११३, ११८४-८८, १४१८-१९ आदि।

२६. पुष्पिताग्रा – १२१-१३५, १५६-५७, ३३९-४०, ३६४, ३६६, ७४१-७९, ९८८, १२१४-१२१८

२७. मालिनी – १५९-६७, १९३-२१२, ३६५, ३७७, ११५९-६३, १२२४-१२२८ आदि।

२८. प्रहर्षिणी – ३९३-३९४

२९. वंशस्थ – ललित-विस्तर, क्रम संख्या-६३८, १०२३, १०७३

३०. ललित-विस्तर, क्र.सं. ३४-५३, ५१७-५२४, ६१५-१७, ७४३-५३, ७८०-८९, ९१०-८०, ८६-८८, ९९०-१०००, १०२०-२२, ११७५-७८, १३१२-१४, १६-१७, २०-२७, ३२-३६, ८०-८३, ८४-९९, १४०४-१७, १४९६-१५०३ आदि।

३१. ललित-विस्तर – १२/४२, १३/७३, ८३, ८४, २३/१७, ५०

३२. ललित-विस्तर – ५/५२,५३, १३/९७ आदि।

३३. वही, २४/२५, ३१, ३४, ६४, २६/३४-३८

तृतीय खण्ड

ललित-विस्तर का दार्शनिक अध्ययन

गौतम ने केवल पर-दु:ख को न सह सकने के कारण ही गृह त्याग किया था, न कि यज्ञों में हिंसा को देखकर जैसा कि आज-कल के शिक्षा सम्पन्न विद्वान समझते हैं।[१] युवावस्था में ही इन्होंने घर-परिवार छोड़कर सन्यास धारण किया। जरा-मरण एवं व्याधि के दृश्यों को देखने से इनके मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि संसार में केवल दु:ख ही दु:ख है। अत: दु:ख से मुक्ति पाने के लिए इन्होंने सन्यास ग्रहण किया। सन्यासी बनकर इन्होंने दु:खों के मूल कारण को जानने का अथक् प्रयत्न किया। धर्मोपदेशकों तथा प्रगाढ़ पंडितों से शिक्षाएँ लीं। तपस्याएँ भी की। उरूबेला के जंगल में जाकर छ: वर्षो तक इन्होंने कठोर तपस्या की, किन्तु उन्हें अपनी तपस्या से संतोष नहीं हुआ। वहाँ से उठकर बोधगया में एक पीपल वृक्ष के नीचे आकर पुन: तपस्या करने लगे। यहाँ पर तपस्या के प्रभाव से जन्म-जन्मान्तरों के मल दूर हो जाने के फलस्वरूप उनका अन्त:करण पवित्र हो गया और अपने उद्देश्य की प्राप्ति में वे सफल हुए। वे बोधि (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त करके बुद्ध कहलाए। उन्होंने बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् बहुजनहिताय बुहजन सुखाय की भावना से जिस धर्म का लोगों में उपदेश किया, वह बौद्ध धर्म कहलाया। आगे चलकर बौद्ध धर्म का बहुत अधिक प्रचार-प्रसार हुआ। यहाँ तक कि दक्षिण में लंका, ब्रह्मा तथा श्याम और उत्तर में तिब्बत, चीन, जापान तथा कोरिया तक इसका संदेश पहुँच गया।

भगवान् बुद्ध को सम्बोधि के समय चार सत्यों का ज्ञान प्राप्त हुआ था। इन्हीं सत्यों के सम्पक् ज्ञान से उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई। इन सत्यों को "चार आर्य सत्य" कहा गया है। सत्यों की संख्या अनेक है, परन्तु अत्यधिक महत्वशाली होने के कारण ये सत्य सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सारांश उनके चार आर्य-सत्यों में निहित है। ये चार आर्य-सत्य ही बौद्ध-धर्म तथा दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। बोधि प्राप्त होने के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम इन्हीं चार आर्य-सत्यों का उपदेश सारनाथ में दिया था। फलत: ये चारों आर्य-सत्य सर्वप्रथम "धम्मचक्कपवत्तन सुत्त" (सारनाथ में प्रथम उपदेश) में पाये जाते हैं। इन आर्य-सत्यों की विस्तृत व्याख्या "महावग" में की गयी है। चार आर्यसत्य बौद्ध धर्म के आधार हैं। इन आर्यसत्यों का महत्त्व बतलाते हुए भगवान् "महापरिनिर्वाण सुत्त" में कहते हैं- भिक्षुओं! इन चार आर्य सत्यों को भली-भाँति न जानने के कारण ही मेरा और तुम्हारा संसार में जन्म-मरण और दौड़ना जारी रहता है। इस आवागमन के चक्कर में हम सभी दु:ख भोगते हैं। विभिन्न योनियों में भटकते हैं। अब इसका ज्ञान हो गया, दु:ख का समूल नाश हो गया, अब आवागमन नहीं होना है।[२]

भगवान् के द्वारा प्रत्यक्ष किए गये ये चार आर्य-सत्य हैं- दु:ख, दु:ख-समुदय, दु:ख-निरोध (निर्वाण) और दु:खनिरोध मार्ग अर्थात् निर्वाणमार्ग। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि सांसारिक जीवन दु:खों से परिपूर्ण है, दु:खों के कारण हैं, दु:खों का अन्त है और दु:ख दूर करने के उपाय हैं। इन्हीं चार आर्य-सत्यों पर बौद्ध धर्म एवं दर्शन का विशाल महल तैयार हुआ है।

ललित-विस्तर में बौद्ध दर्शन के विविध तत्वों, जैसे- चतुरार्यसत्य, आर्याष्टाङ्गिक मार्ग, पंच-स्कन्ध, प्रतीत्य समुत्पाद, षडायतन आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। सर्वप्रथम चार आर्य सत्यों का वर्णन करना समीचीन होगा।

चार आर्य-सत्य

१. दु:ख आर्य-सत्य है, २. दु:ख समुदय आर्य-सत्य है, ३. दु:ख निरोध आर्य-सत्य है, ४. दु:ख निरोध का मार्ग आर्य-सत्य है।[३]

प्रथम आर्य-सत्य

प्रथम आर्य-सत्य "दु:ख" है, इस संसार में जन्म लेना दु:ख है, जरा (बुढ़ापा) दु:ख है, मरण दु:ख है, शोक करना दु:ख है, विलाप करना दु:ख है, कष्ट होना दु:ख है, चिन्तित होना दु:ख है, व्यग्र (परेशान) होना दु:ख है, इच्छा की पूर्ति न होना दु:ख है, प्रिय से वियोग दु:ख है, अप्रिय से संयोग दु:ख है। संक्षेप में पंच उपादान स्कन्ध या शरीर ही दु:ख है। पाँच उपादानों के कारण ही सभी दु:ख हैं।[४] इसी तथ्य को अर्थ विनिश्चय सूत्र में भी बतलाया गया है।[५] इस बात को ललित-विस्तर में इस प्रकार बतलाया गया है। "कत्मद् दु:खं? जातिरपि दु:खं, व्याधिरपि दु:खं, जरापि दु:खं, मरणमपि दु:खं, अप्रिय संयोगोऽपि, प्रियविप्रयोगोऽपि दु:खम्। सक्षेपात् पंचोपादानस्कन्धा दु:खम्।[६]

रोग, जरा, मरण आदि दृश्यों को देखकर ही सिद्धार्थ का मन विकल हो गया, किन्तु जब सिद्धार्थ बुद्धत्व की प्राप्ति की तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव तथा मानवेतर जीवन सभी दु:ख से परिपूर्ण हैं। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, क्लेश, आकांक्षा, नैराश्य- सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, अत: ये सभी दु:ख हैं।[७] क्षणिक विषयों के लिए आसक्ति ही पुनर्जन्म तथा बंधन का कारण है। बुद्ध ने सांसारिक जीवन को दु:खमय बतलाया है,[८] परन्तु चार्वाक इसे नहीं मानते हैं। वे यह कहते हैं कि दु:खों के साथ-साथ जीवन में सुख प्राप्ति के भी अनेक साधन हैं, लेकिन महात्मा बुद्ध एवं अन्य भारतीय दार्शनिकों का इसके विरूद्ध यह मत है कि सांसारिक सुखों को यथार्थ सुख समझना केवल अदूरदर्शिता ही है। सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है। वे क्षणिक होते हैं। उनके नष्ट हो जाने पर दु:ख ही होता है। ऐसे सुखों के साथ बराबर यही चिन्ता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाएँ। इस तरह के अनेक दु:ख परिणाम हैं जिनके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे जा सकते, वे तो आशंका और चिन्ता के मूल हैं।

दुःख का उपदेश देते हुए तथागत ने स्वयं ही प्रथम आर्य-सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि - भिक्षुओं! चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा, पिता के मरने का दुःख सहा, पुत्र के मरने का दुःख सहा, पुत्री के मरने का दुःख सहा, कुटुम्बों के मरने का दुःख सहा, सम्पत्ति के नाश होने का दुःख सहा, रोगी होने का दुःख सहा है....। इन सभी प्रकार के दुःखों को सहने वाले संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग तथा अप्रिय के संयोग के कारण कष्ट सहे हैं, आँसू बहाये हैं। इस प्रकार दीर्घकाल तक दुःख का अनुभव किया है।[१] इस प्रकार का दुःख वर्णन त्रिपिटक में अनेक बार आया है। इस गम्भीर सत्य को समझाने के लिए भगवान् बुद्ध ने बार-बार इस पर प्रकाश डाला है। इससे सिद्ध होता है कि दुःख सत्य ही तथागत की पहली शिक्षा, उनके उपदेश में प्रथम सोपान है। इसी कारण भगवान् बुद्ध ने इसे प्रथम आर्य सत्य माना है। इसे भली-भाँति समझे बिना अन्य आर्य-सत्यों का ज्ञान असम्भव है।

द्वितीय आर्य-सत्य

द्वितीय आर्य सत्य है- ''दुःख समुदय'' अर्थात् दुःख की उत्पत्ति का कारण है। दुःख की उत्पत्ति सकारणं है, अकारण नहीं। संसार में कोई घटना अकारण नहीं होती। प्रत्येक कार्य का कोई कारण है और प्रत्येक कारण का कोई कार्य है। इसी कार्य-कारण नियम सूत्र में सम्पूर्ण संसार बँधा है। इस आर्य-सत्य में इसी कारण पर विचार किया गया है। कारण समुदाय ही दुःख समुदय कहलाता है। इसी समुदय के कारण जन्म-मरण होता है, अतः इसे जन्म-मरण चक्र, भव-चक्र या अलात चक्र भी कहते हैं। दुःख समुदय के बारह अंग हैं। अतः इसे द्वादश निदान भी कहा जाता है।

दुःख के अस्तित्व को तो सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं, किन्तु दुःख के कारण के सम्बन्ध में सभी एक मत नहीं हैं। भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से दुःख के कारण को बतलाया है। द्वादश निदान, भव चक्र का नाम ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। जन्म-मरण का कारण स्वरूप द्वादश निदान निम्न है-

१. अविद्या से संस्कार
२. संस्कार से विज्ञान
— अतीत जीवन

३. विज्ञान से नामरूप
४. नामरूप से षडायतन
५. षडायतन से स्पर्श
६. स्पर्श से वेदना
७. वेदना से तृष्णा
८. तृष्णा से उपादान
९. उपादान से भव
— वर्तमान जीवन

१०. भव से जाति
— भविष्य जीवन

११. जाति से जरा १२. जरा से मरण	भविष्य जीवन

द्वादश निदान बौद्ध दर्शन का आधार-स्तम्भ सिद्धान्त माना गया है। जन्म-मरण का यही निदान है, जिसकी खोज में तथागत राज्य-सुख का त्याग करके बारह वर्षों तक अनवरत साधना की थीं। मानव जन्म लेता है और मरता है, जंन्म और मरण का यह चक्र अनवरत चलता रहता है। जन्म और मरण का कारण कोई अदृष्ट शक्ति अथवा ईश्वर नहीं है। हम किसी के भेजने से पृथ्वी पर नहीं आते, किसी के कहने से हम संसार में जन्म नहीं लेते। हम स्वयं जन्म ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, अतः जन्म लेते हैं। मनुष्य के जन्म का कारण कोई अन्य नहीं, वह स्वयं ही कारण है। यदि हमें जन्म लेने की इच्छा न होती तो संसार में हम नहीं आ सकते। मनुष्य की इच्छा अथवा तृष्णा को ही जन्म का कारण बतलाना भगवान् बुद्ध की देन है। फांस के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ ने भी बुद्ध के समान मानव की इच्छा को ही जन्म का कारण माना है। भगवान् बुद्ध मनुष्य को स्वयं अपना स्वामी, अपना नाथ बतलाते हैं।[१०] इन द्वादश निदानों का निर्देश लतिल-विस्तर में भी धर्म-चक्र-प्रवर्तन परिवर्त में किया गया है।[११] ललित-विस्तर सूत्र में दुःख समुदय का वर्णन इस प्रकार है-

येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहागता तत्रतत्राभिनन्दिनी अयमुच्यते दुःख समुदयः।[१२]

प्रतीत्यसमुत्पाद

इसमें दो शब्द हैं- (१) प्रतीत्य- इसका तात्पर्य है किसी व़स्तु के उपस्थित होने पर, (२) समुत्पाद- इसका अंर्थ है किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति। द्वादश निदान या भव चक्र का नाम ही प्रतीत्यसमुत्पाद है।[१३] यह भगवान बुद्ध की शिक्षा का आधार-स्तम्भ सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है- ''प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम''।[१४] इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक उत्पादन (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय या कारण है। वाह्य तथा आन्तरिक जितनी भी घटनाएँ होती हैं, सभी के कुछ न कुछ कारण अवश्य होते हैं। किसी कारण के बिना किसी कार्य का आविर्भाव नहीं हो सकता। यह नियम किसी चेतना-शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होता, अपितु यह स्वयं चा़लित होता है। सामग्रियों के प्रत्यय से अर्थात् एक साथ होने से कार्य उत्पन्न होता है। मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के संयोग से रूपज्ञान हो जाता है। अकस्मात् किसी का प्रादुर्भाव नहीं होता। अविद्या से जरा-मरण का द्वादश निदानों में इस निमय श्रृंखला को हम पहले ही देख चुके हैं। इस कार्य-कारण के नियम को संस्कृत में प्रतीत्यसमुत्पाद तथा पालि में पतिच्चसमुप्पाद कहते हैं।[१५] इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यय (कारण) के रहने पर कार्य अवश्य होगा। कारण के न रहने पर कार्य नहीं होगा। आदिकारण तृष्णा के रहने पर जन्म अवश्य होगा। तृष्णा के अभाव में जन्म-जरा-मरण का भी अभाव होगा।[१६] यही संक्षेप में प्रतीत्य-समुत्पाद का नियम है। इसे कारणतावाद का नियम भी कहते हैं। इसे ''इदं प्रत्ययता'' का नियम भी

कहते हैं। ''इदं प्रत्ययता'' का अर्थ है- इसके होने पर यह होना। तात्पर्य यह है कि कारण के रहने से ही कार्य होगा- अविद्या के रहने से ही ''संस्कार'' होगा। संस्कार के रहने से ही विज्ञान होगा और विज्ञान के रहने से ही ''नामरूप'' ....। इस प्रकार जन्म-ग्रहण करने से ही जरा तथा मरण होगा। अत: इस संसार में जो भी कार्य है वह अकारण नहीं, किसी भी घटना की उत्पत्ति स्वत: नहीं होती। सबका होना प्रत्यय या कारण के अधीन है। अत: प्रत्यय या कारण का सिद्धान्त ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। इसे ही ''तथता'', ''अवितथता'' और अनन्यतथता'' भी कहा गया है। ''तथता'' का अर्थ है कारण के नियमानुसार उत्पत्ति। ''अवितथता'' का अर्थ है, प्रत्यय या कारण से अवश्यम्भावी उत्पत्ति। इसी प्रकार ''अनन्य तथता'' का अर्थ है किसी अन्य पदार्थ से अन्य पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है। इससे स्पष्ट है कि किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति उसके प्रत्ययों या कारणों पर निर्भर है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ''प्रतीत्य-समुत्पाद'' कारणतावाद है। भगवान् बुद्ध इस कार्य-कारण सिद्धान्त के द्वारा मध्यम मार्ग की शिक्षा देते हैं। मध्यम मार्ग दो अन्तों का परिहार है। दो अन्त हैं- (१) अकारणवाद (नास्तिकवाद), (२) नियतिवाद (आस्तिकवाद)। अकारणवाद के अनुसार संसार के सभी कार्य अकारण हैं। किसी घटना का कोई कारण नहीं। सभी कार्य अकस्मात् होते हैं। मानव का जन्म भी अकस्मात् होता है। मानव के दु:ख-सुख का कोई कारण नहीं है। यही नास्तिकों (चार्वाक आदि) का मत है। आस्तिकों के अनुसार जन्म, सुख, दु:ख सभी ईश्वर कृत हैं। भगवान् ही भाग्य विधाता है। उसकी इच्छानुसार ही हम संसार में सुख-दु:ख भोगते हैं, जो कुछ हो रहा है वह सब भाग्याधीन या दैवाधीन है। भगवान् बुद्ध इन दोनों अन्तों का परिहार करते हैं। जन्म, जरा-मरण अकारण नहीं है तथा इसका कारण कोई अदृष्ट ईश्वर नहीं है। प्रतीत्य-समुत्पाद सिद्धान्त से भगवान् इन दो अतिवादों नास्तिक वाद और आस्तिक वाद अकारणवाद और ईश्वरवाद का निषेध करते हैं।[१७] ललित-विस्तर में भी इसी तथ्य को इस गाथा के माध्यम से बतलाया गया है-

''जातिनिदान जरब्याधिदु:खानि भोन्ति
उपपत्ति नैव-विविधा भवपन्जलेस्मि।
एषमेव सर्व इति प्रत्ययतो जगस्य
न च आत्म पुद्गलु न संक्रमकोऽस्ति कश्चि॥''[१८]

इसके अलावा भी ललित-विस्तर की कई अन्य गाथाओं में कार्यकारण (प्रतीत्य समुत्पाद) के सिद्धान्त का उल्लेख है।[१९]

तृतीय आर्य-सत्य

तृतीय आर्य-सत्य को ''दु:खनिरोध'' कहते हैं। इस आर्य-सत्य से यह सिद्ध होता है कि दु:ख का नाश सम्भव है। द्वितीय आर्य-सत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि दु:ख का कारण है। अत: यदि दु:ख के कारण का अन्त हो जाय तो दु:ख का अन्त भी अवश्यम्भावी

है। दुःखनाश या दुःख निरोध की अवस्था का यथार्थ ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। बौद्ध दर्शन में दुःख निरोध को ही "निर्वाण" कहा गया है। जन्म-मरण की प्रक्रिया का शान्त होना ही निर्वाण है।

निर्वाण की प्राप्ति जीवन-काल में भी हो सकती है। रागद्वेषों पर विजय पाकर शुद्ध आचरण या शील के साथ-आर्य-सत्यों का निरन्तर ध्यान करते हुए यदि कोई व्यक्ति समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त कर लेता है तो उसका चित्त लोभ, मोह, राग, द्वेष से मुक्त हो जाता है। उसे काम, रूप या अरूप किसी विषय की तृष्णा नहीं रहती है।[२०] इस प्रकार वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। मुक्तिप्राप्त व्यक्ति को "अर्हत्" कहते हैं तथा विमुक्ति ही निर्वाण है। निर्वाण राग-द्वेष तथा तज्जन्य दुःख के नाश की अवस्था है। ललित-विस्तर में पुनर्जन्म की तृष्णा के नाश को दुःखनिरोध कहा गया है।[२१] निर्वाण की प्राप्ति जीवन-काल में भी हो सकती है। यह तथ्य निम्न गाथा से स्पष्ट है-

यस्मिन्न कल्पु न विकल्प तं योनिमाहुः
यद् योनिशो भवति न तत्र अविद्यकाचि।
यस्मिन्निरोधु भवतीह अविद्यतायाः
सर्वे भवाङ्ग क्षयक्षीण क्षयं निरूद्धा॥[२२]

निर्वाण का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है। राग, द्वेष आदि के बिना कर्म करने से बन्धन नहीं होता, महात्मा बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी परिभ्रमण, धर्म-प्रचार, संघ-स्थापन आदि कार्य करते रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध का जीवन निर्वाण के बाद भी बिल्कुल कर्ममय रहा।

इन बातों से स्पष्ट है कि निर्वाण प्राप्त करने पर "अर्हत्" निष्क्रिय नहीं हो जाते हैं, अपितु निर्वाण प्राप्ति के बाद उनकी परहित भावना बढ़ जाती है, जिसके कारण वे बहुजन हितार्थ अपने ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करते हैं। निर्वाण का अर्थ जीवन नाश नहीं, प्रत्युत दुःखों का अन्त होना है। निर्वाण-प्राप्ति के दो लाभ हैं- (१) पुनर्जन्म और दुःख का अन्त, (२) जीवनकाल में ही शान्ति की प्राप्ति। वैसे निर्वाण को वर्णनातीत कहा गया है। यह संसार हेतु एवं प्रत्यय (प्रतीत्य-समुत्पन्न) पर आधारित है। यही हेतु और प्रत्ययों से रहित होने पर निर्वाण कहलाता है।[२३]

चतुर्थ आर्य-सत्य

चतुर्थ आर्य-सत्य दुःख निरोध-मार्ग है, अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है। जिन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है, उन कारणों के नाश का उपाय ही निर्वाण-मार्ग कहा गया है। बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का उपदेश दिया, उसके आठ अंग हैं। इसलिए इसे आर्याष्टाङ्गिक मार्ग कहते हैं।[२४] इसके आठ अंग निम्नलिखित हैं-

१. सम्यक् दृष्टि }
२. सम्यक् संकल्प } प्रज्ञा

३. सम्यक् वाक् ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीव ६. सम्यक् व्यायाम	शील
७. सम्यक् स्मृति ८. स्मयग समाधि	समाधि

इस अष्टाङ्ग मार्ग को प्रज्ञा, शील और समाधि नामक त्रिरत्न में विभाजित किया गया है। यह अष्टांग मार्ग ही श्रेष्ठ मार्ग है[२५] तथा इसी का अनुसरण करने से निर्वाण लाभ हो सकता है।

१. स्मयक् दृष्टि[२६]

सम्यक् दृष्टि यथार्थ दृष्टि है। अविद्या के कारण आत्मा तथा संसार के सम्बन्ध में मिथ्या-दृष्टि की उत्पत्ति होती है। मिथ्या दृष्टि के कारण हम अनित्य, दुःख तथा अनात्म पदार्थ को नित्य, सुख तथा आत्मरूप मानते हैं। यथार्थ दृष्टि से ही मिथ्या दृष्टि का नाश सम्भव है। सम्यक् दृष्टि से ही कुशल तथा अकुशल कर्म का ज्ञान सम्भव है। जब तक कुशल कर्मों का ज्ञान नहीं होता तब तक कुशल कर्मों का आचरण भी नहीं होता। अतः सम्यक् दृष्टि आचार मार्ग का प्रथम अंग है। कुशल तथा अकुशल कर्मों का ज्ञान तथा चार आर्य-सत्यों का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान या सम्यक् दृष्टि है।

२. सम्यक् संकल्प[२७]

इसका तात्पर्य दृढ़ निश्चय करना है। सम्यक् संकल्प के दो अंग हैं- शुभ संकल्प का ग्रहण करना तथा अशुभ संकल्पों का त्याग। आर्य-सत्यों के ज्ञान मात्र से ही कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक उनके अनुसार जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय न किया जाय। जो निर्वाण चाहते हैं, उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति, दुसरों के प्रति विद्वेष और हिंसा- इन तीनों का परित्याग करने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। इसी का नाम सम्यक् संकल्प है।[२८]

३. सम्यक् वाक्[२९]

अनुचित वाणी का त्याग ही सम्यक् वाक् है। मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रियवचन तथा वाचालता- ये चार वाणी के दोष बतलाये गये हैं। इनसे मनुष्य को बचना चाहिए तथा मंगलमय (कल्याणकारी), मित (संक्षिप्त) और मधुर (प्रिय) वाणी का प्रयोग करना चाहिये।

४. सम्यक् कर्मान्त[३०]

पाप कर्मों का त्याग ही सम्यक् कर्म है। हिंसा, स्तेय (चोरी) और इन्द्रिय निग्रह

का अभाव- ये सभी निन्दनीय कर्म माने गये हैं। इनके विपरीत अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह ही पुण्य कर्म हैं। अतः पुण्य कर्मों का सम्पादन ही सम्यक् कर्मान्त है।

५. सम्यक् आजीव[३१]

जीविका निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग ही सम्यगाजीव है। जीविका का उपार्जन उचित मार्ग से होना चाहिए, अनुचित मार्ग से नहीं। अनुचित मार्ग है- दूसरों को क्लेश देकर तथा दूसरों की हिंसा करके जीविका उपार्जन करना। बौद्ध धर्म में पाँच प्रकार के निषिद्ध मार्ग बताये गये हैं-

१. शस्त्र का व्यापार
२. प्राणी का व्यापार
३. मांस का व्यापार
४. मद्य का व्यापार
५. विष का व्यापार

इन सभी निषिद्ध कर्मों को छोड़कर उचित मार्ग से जीविकोपार्जन करना चाहिए।[३२]

६. सम्यक् व्यायाम[३३]

शुभ विचारों का ग्रहण और अशुभ विचारों का परित्याग करने के लिए प्रयत्न ही सम्यक् व्यायाम है। मानव को निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि- (१) पुराने बुरे भावों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाय और (२) नये बुरे भाव भी मन में न आवें, चूंकि मन कभी विचारों से खाली नहीं रह सकता, इसलिए (३) मन को बराबर अच्छे-अच्छे विचारों से पूर्ण रखना आवश्यक है और (४) इन शुभ विचारों को मन में धारण करने के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। इन चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहते हैं। सम्यक् व्यायाम से इस बात का बोध होता है कि धर्म-मार्ग में बहुत आगे बढ़े हुए व्यक्ति को भी अपने प्रयत्न को ढीला नहीं करना चाहिए, अन्यथा धर्म-मार्ग से स्खलन की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

७. सम्यक् स्मृति[३४]

ज्ञात विषयों का यथार्थ स्मरण ही सम्यक् स्मृति है। जिन विषयों का सम्यक् ज्ञान हो चुका है, उन्हें सतत स्मरण करना चाहिए, जैसे- शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और चैतसिक या मानसिक अवस्था को मानसिक रूप में ही चिन्तित करते रहना आवश्यक है। सम्यक् स्मृति के चार अंग है- (१) कायानुपश्यना- शरीर को क्षणिक और विनाशी समझने वाला कायानुपश्यी है, (२) वेदानुपश्यना- वेदना को सुखात्मक, दुःखात्मक और उभयात्मक समझने वाला वेदानुपश्यी है, (३) चित्त के सराग और विराग रूप को जानने वाला चित्तानुपश्यी है, (४) धर्म को राग, द्वेष, मोह इत्यादि से रहित जानने वाला धर्मानुपश्यी है। इस प्रकार का सतत स्मरण ही सम्यक् स्मृति है। इस प्रकार के स्मरण

या चिन्तन से इन विषयों के यथार्थ स्वरूप का ध्यान बना रहता है।[३५]

८. सम्यक् समाधि[३६]

बौद्ध धर्म में समाधि का सबसे अधिक महत्व बतलाया गया है। सम्यक् समाधि अष्टाङ्ग-मार्ग का अन्तिम चरण है। समाधि के दो अंग बतलाये गये हैं- चित्त की एकाग्रता और प्रज्ञा। भगवान् स्वतः बोधिवृक्ष के नीचे चित्त को एकाग्र करके बैठे और उन्हें प्रज्ञा प्राप्त हुई। इस अन्तर्दृष्टि से उन्हें दुःख, अनात्म और क्षणिक वाद का ज्ञान प्राप्त हुआ।

बौद्ध धर्म में समाधि के चार अंग बतलाये गये हैं। ध्यान की पहली अवस्था में साधक एकाग्रचित्त हो, वाह्य विषयों से ध्यान को हटाकर केवल आर्य सत्यों पर ही चिन्तन करता है। विरक्ति तथा शुद्ध विचार के कारण वह अपूर्व आनन्द एवं शान्ति का अनुभव करता है। आर्य-सत्य सम्बन्धी अनेक तर्क-वितर्क उसके मन में उठते हैं और सन्देह उत्पन्न होता है।

ध्यान की दूसरी अवस्था प्राप्त हो जाने पर सभी प्रकार के सन्देह दूर हो जाते हैं, आर्य-सत्यों के प्रति श्रद्धा का भाव बढ़ता है और तब वितर्क तथा विचार अनावश्यक हो जाते हैं। तब समाधि की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में प्रगाढ़ चिन्तन के कारण शांति तथा चिरस्थिरता का उदय होता है। इस अवस्था में शान्ति तथा आनन्द का ज्ञान भी साथ-साथ रहता है।

ध्यान की तीसरी अवस्था में साधक का ध्यान आनन्द से भी हट जाता है तथा उसके मन में उपेक्षा भाव का उदय होता है, परन्तु दैहिक सुख का भाव रहता है। ध्यान की चौथी अवस्था में चित्त की साम्यावस्था रहती है, दैहिक सुख एवं ध्यान के आनन्द किसी का भी भान नहीं रहता। चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाता है। यह अवस्था पूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग तथा पूर्ण निरोध की है। यह सुख और दुःख से रहित अवस्था है। इस प्रकार दुःखों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अर्हत् या निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्था है।[३७]

उपर्युक्त आठों आचरणों का पालन करना निर्वाण के लिए आवश्यक है। इनके आचरण से अन्तकरण शुद्ध होता है और ज्ञान का उदय होता है। ये ही आर्याष्टाङ्गिक मार्ग कहे जाते हैं, जिनका उल्लेख ललित-विस्तर में भी किया गया है-

रात्याः पश्चिमे यामे पन्चकान् भद्रवर्गीयानामान्त्र्यैतदवोचत्- द्वाविमौ भिक्षवः प्रव्रजितस्यान्तावक्रमो। यश्च कामेषु कामसुखल्लिका योगो हीनो ग्राम्यः पार्थजनिको नालमार्योऽनर्थोपसंहितो नायत्यां ब्रह्मचर्याय न निर्वेदे न विरागाय न निरोधाय नाभिज्ञान न संबोधये न निर्वाणाय संवर्तते। ये चेयम् मध्यमा प्रतिपदा आत्मकायक्लमथानुयोगो दुःखोऽनर्थोपसंहितो दृष्टधर्मदुःखश्चायत्यां च दुःखविपाकः। एतो च भिक्षवो द्वावन्तावनुपगम्य मध्यमैव-प्रतिपदा तथागतो धर्म देशयति- यदुत सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यक्वाक्,

सम्यककर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यकस्मृतिः, सम्यकसमाधिरिति। उदमुच्यते दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदार्यसत्यमिति।[३८]

पन्च स्कन्ध

मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है। जिस तरह चक्र, धुरी, नैमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह वाह्यरूपयुक्त शरीर, मानसिक अवस्थाएँ और रूपहीन संज्ञा (विज्ञान) के समूह के संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तब तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का अन्त हो जाता है। इस संघ के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील पदार्थों का एक संग्रह है। इन्हीं पाँच तत्वों को पंचस्कन्ध कहते हैं। जिस प्रकार रथ की सत्ता रथाङ्गों से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार व्यक्ति की सत्ता पंच-स्कन्धों से भिन्न नहीं है। वे पन्च-स्कन्ध निम्न हैं-

१. रूप स्कन्ध, २. वेदना स्कन्ध, ३. संज्ञा स्कन्ध, ४. संस्कार स्कन्ध, ५. विज्ञान स्कन्ध।[३९]

१. रूप स्कन्ध[४०]

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु- ये चार महाभूत तथा इनसे उत्पन्न सभी रूप, रूपस्कन्ध कहलाते हैं। हड्डी-माँस, स्नायु और चर्म से घिरा आकाश ही रूप कहलाता है।

२. वेदना स्कन्ध

सुख, दुःख और न सुख-दुःख, इन तीन प्रकार की अनुभूतियों को वेदना कहते हैं।[४१] अनुकूल अनुभव करना सुखात्मक वेदना, प्रतिकूल अनुभव करना दुःखात्मक वेदना तथा न अनुकूल और न प्रतिकूल ही अनुभव करना अ-दुःख-सुखात्मक वेदना है। व्यक्ति इन अनुभूतियों का पुन्ज है। यही वेदना स्कन्ध है।

३. संज्ञा स्कन्ध

गुणों के आधार पर किसी वस्तु का नामकरण संज्ञा है। संज्ञा का कार्य पहचान कराना है। हमें नील, पीत, श्वेत, रक्त, ह्रस्व, दीर्घ आदि रूप से वस्तु की पहचान होती है, यही संज्ञा है।[४२] विज्ञान तथा संज्ञा में निर्विकल्पक और सविकल्पक के समान अवस्था और शब्द का भेद हैं।

४. संस्कार स्कन्ध[४३]

पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती है, उन्हें ही संस्कार कहते हैं। राग-द्वेष, धर्म-अधर्म इत्यादि की चेतना को ही संस्कार कहते हैं। संस्कार तीन हैं- काय संस्कार, वाक् सस्कार और चित्त संस्कार। कायिक- धर्म आश्वास-प्रश्वास ही काय संस्कार है।

वितर्क विचार ही वाक् (वचन) संस्कार है। संज्ञा और वेदना चित्त संस्कार है।

५. विज्ञान स्कन्ध

वाह्य वस्तुओं का ज्ञान और आन्तरिक अहं अर्थात् "मैं" का ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है।[४४] वाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श के रूप में होता है तथा आन्तरिक ज्ञान "अहं" रूप से होता है। यही विज्ञान है।[४५]

इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक पंचस्कन्ध के समन्वित रूप को पुद्गल मानते हैं। यह पंचस्कन्ध क्षणिक है, परिवर्तनशील है। अतः पुद्गल भी क्षणिक है। ललित-विस्तर में पंचस्कन्धों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

"यत्रस्कन्धैर्दुखं आयतनै तृष्णै संभवं दुःखम्।
भूयो न चोदभवविष्यति अभयपुरमिहाभ्युपगतोऽस्मि॥"[४६]

षडायतन

पाँच ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) और मन को षडायतन के नाम से जाना जाता है। इसका उल्लेख भी ललित-विस्तर में किया गया है-

"इह में कर्मविधाना समुदयमुदिता षडायतनमूला।
छिन्नाद्रुमेन्द्र मूले सर्वानित्य प्रहारेण॥"[४७]

षडायतन का उनके विषयों के साथ जोड़ देने पर ये सब द्वादश आयतन हो जाते हैं, यथा- चक्षु-रूप, श्रोत्र-शब्द, घ्राण- गन्ध, जिह्वा- रस, कार्य-स्पर्श, मन-धर्म।[४८]

क्षणिकवाद (अनित्यवाद)

बौद्ध धर्म के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सदैव कहा करते थे कि सभी वस्तुएँ परितवर्नशील तथा नाशवान हैं। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से ही होती है। अतः कारण के नष्ट हो जाने पर उस वस्तु का नाश हो जाता है, जिसका आदि है, उसका अन्त भी है। बुद्ध ने कहा है कि– जितनी वस्तुएँ हैं, सबकी उत्पत्ति कारणानुसार हुई हैं। ये सभी वस्तुएँ सब तरह से अनित्य हैं[४९] जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जो महान् मालूम पड़ता है उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है। यह कार्य-कारण सिद्धान्त ही सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता, सभी धर्मों की क्षणभंगुरता को प्रमाणित करता है। कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है तथा कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। अतः सभी वस्तुएँ कारणोत्पन्न हैं तथा उत्पन्न होने से विनाशी हैं। उत्पत्ति और विनाश से सभी वस्तुओं की अनित्यता सिद्ध होती है। यहाँ पर कोई वस्तु नित्य नहीं, सभी अनित्य एवं क्षणिक हैं।[५०]

क्षणिकवाद का अर्थ है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व क्षण मात्र के लिये होना। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, उसी प्रकार एक क्षण दूसरे को दूसरा तीसरे को जन्म देता है। यही प्रवाह नित्यता है, क्षणिक है। इस प्रवाहनित्यता को ही हम भ्रमवश सनातन या शाश्वत मान लेते हैं। वास्तव में कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं होती। सभी अनित्य, क्षणिक एवं परिणामी हैं। परिणाम या परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है। वस्तु में क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, जो आज है वह कल नहीं, कल दूसरा स्वरूप होगा। नदी के प्रवाह की भाँति सभी वस्तुयें सतत् परिवर्तन की अवस्था में हैं।[५१]

बौद्ध दार्शनिक सत् और क्षणिकत्व में व्याप्ति सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना हैं- सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः सत्त्वात् अर्थात् सत् (सत्ता) हेतु से सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध होते हैं। व्याप्ति का स्वरूप यों है- ''यत् सत् तत् क्षणिकम्'' अर्थात् जहाँ भी सत्ता है वहाँ क्षणिकता भी है और जहाँ क्षणिकत्व है वहीं सत्ता भी है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ का स्वरूप ही क्षणिक है। इस प्रकार क्षणभंग वाद का निश्चय होता है। वर्तमान भूत से जन्य है तथा भविष्य का जनक है। भूत का वर्तमान में और वर्तमान का भविष्य में परिवर्तन स्वभाव है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्षणभंग वाद प्रतीत्य समुत्पाद का ही विकास है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाव क्षणिक है, प्रत्येक वस्तु क्षणावस्थित रूप है। इस प्रकार क्षणभर के लिए विद्यमान अथवा क्षणावस्थित को ही क्षणिक कहा गया है। क्षणिक का साधारण अर्थ ''क्षण भर के लिए विद्यमान'' है, परन्तु बौद्ध दर्शन में इसका एक विशेष अर्थ है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार जिस वस्तु की स्थिति क्षण भर के लिए है, वह अवश्य ही अनित्य एवं विनाशी है। अतः क्षण का अर्थ वस्तु के उत्पन्न होने के बाद तुरन्त नष्ट हो जाना है। जो उत्पत्ति के बाद शीघ्र नष्ट हो जाता है वह विनाशी है। इस प्रकार क्षण और क्षणिक वस्तु में कोई भेद नहीं, वस्तु का स्वरूप ही क्षणिक है। अतः वह विनाशी है।[५२] इस दृष्टि से क्षणिक वाद का अर्थ अनित्यवाद हुआ। क्षणिकवाद स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद से सिद्ध होता है और अनित्यवाद को सिद्ध करता है।

क्षणिक वाद बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। यह नित्य या शाश्वत वाद का विरोधी सिद्धान्त है। आस्तिक दर्शनों में आत्मा इत्यादि को नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता। आस्तिक दर्शनों का कहना है कि क्षणिक वाद का मानने से कृत-प्रणास और अकृताभ्यागम का दोष होगा। नैतिक नियम के अनुसार ''किये गये कर्मों का फल नष्ट नहीं होता'' (कृतप्रणास) और ''बिना किये गये किसी कर्म का फल भी नहीं मिलता (अकृताभ्यागम)। क्षणिकवाद के अनुसार तो प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षणिक है। कर्म किया गया और बिना फल दिये क्षण भर में नष्ट हो गया। दूसरे क्षण में बिना कर्म किये हुए फल की प्राप्ति हो गई, अतः क्षणिकवाद कर्मवाद

का विरोध करता है। बौद्ध दार्शनिक कर्म के दोनों नियमों को मानते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किये कर्म का फल प्राप्त नहीं होता, परन्तु उनका कहना है कि कर्म और फल की यह परम्परा क्षणिक है, विनाशी है। तत्वमीमांसा की दृष्टि से एक और गम्भीर आक्षेप क्षणिकवाद के विरूद्ध लगाया जाता है। आस्तिक दर्शनों का कहना है कि यदि सब कुछ क्षणिक है तो स्मृति की व्याख्या नहीं हो पायेगी। बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वृद्ध व्यक्ति को स्मरण रहता है कि मैं ही पहले बाल और युवा अवस्था में था। व्यक्ति में ऐक्य या अभिन्नता बनी रहती है। बौद्ध दार्शनिक शान्त रक्षित और कमलशील का कहना है कि ऐक्य का अर्थ समानता या सादृश्य है। सारी रात एक ही दीपक जलता रहता है। यहाँ दीपक का ऐक्य केवल भ्रम है। दीपशिखा प्रतिक्षण बदलती रहती है, परन्तु भ्रम से वही दीपशिखा प्रतीत होती है। ''वही दीपशिखा'' का अर्थ उसी के समान या सदृश है। जिस प्रकार दीपक की एक शिखा दूसरी शिखा को जन्म देती है उसी प्रकार एक स्मृति दूसरी स्मृति को जन्म देती है। स्मृति का प्रवाह चलता रहता है, परन्तु यह प्रवाह क्षणिक है, अनित्य है, विनाशी है।

बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद के समर्थन में अनेक युक्तियाँ भी दी हैं। यहाँ एक का उल्लेख किया जा रहा है। किसी वस्तु की सत्ता का लक्ष्य है उसका ''अर्थ-क्रिया-कारित्व अर्थात् किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति।'' अर्थक्रिया कारित्व लक्षण सत्''। शश-श्रृंग की तरह जो बिलकुल असत् है उससे कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि सत्ता का यही लक्षण हो तो इससे सिद्ध किया जा सकता है कि सत्ता क्षणिक है। एक बीज का दृष्टान्त लीजिए। यदि यह बीज क्षणिक नहीं अर्थात् एक से अधिक क्षणों तक स्थायी रहता है तो इस प्रत्येक क्षण में कार्योत्पादन की क्षमता रहनी चाहिए, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है कि वस्तु की सत्ता हों और उसमें कार्योत्पादन की शक्ति न हो। अतः सत्ता के लिए क्रिया-कारित्व आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में जन्य-जनकत्व का समार्थ्य या शक्ति है। बीज अंकुर में बदल जाता है, अर्थात् बीज में अंकुर उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। किसी-किसी का कहना है कि बीज से अंकुर की उत्पत्ति धरणी-सलिल संयोग से होती है। यह ठीक है कि धरणी-सलिल संयोग अंकुर उत्पन्न करने में सहकारी कारण हैं, परन्तु बीज में उत्पादिका शक्ति रहने पर ही धरणी-सलिल संयोग का फल अंकुर है। जिस बीज में शक्ति नहीं उसके लिए इन कारणों का कोई प्रयोजन नहीं। यह परिवर्तनशीलता केवल बीज में ही नहीं है। संसार की सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, क्योंकि किसी भी वस्तु से सदैव एक ही प्रकार के परिणाम की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षण भर ही रहती है। इसी को क्षणिकवाद कहते हैं।

अनात्मवाद

इस संसार तथा संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। मनुष्येतर जीव या अन्य

कोई भी वस्तु परिवर्तन से रहित नहीं है, लेकिन लोगों में एक मिथ्या धारणा है कि मनुष्य के अन्तर्गत ''आत्मा'' नाम की एक चिर स्थायी वस्तु है। शरीर के परिवर्तित होते रहने पर भी आत्मा सदा कायम रहता है। उसकी सत्ता जन्म के पूर्व तथा मृत्यु के बाद भी कायम रहती है। एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर में भी इसका प्रवेश होता है, किन्तु बुद्ध हेतु समुत्पन्न इस संसार में परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानते हैं, अत: वे आत्मा को भी नहीं मानते हैं। इसी का नाम अनात्मवाद है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि बुद्ध आत्मा की नित्यता को नहीं मानते थे तो पुनर्जन्म में उनका विश्वास कैसे हो सकता था। वह यह भी कह सकते थे कि बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे में एक ही व्यक्ति कायम रहता है ?[५३] स्थिर आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन विविध क्रमबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं का एक प्रवाह है। विभिन्न अवस्थाओं को ही जीवन कहते हैं। इस संतति के अन्दर किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्ती अवस्था से होती है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण-कार्य का सम्बन्ध रहता है। इसीलिए सम्पूर्ण जीवन एक मय मालूम पड़ता है।[५४] जीवन की एकसूत्रता को एक जलते हुए दीपक से समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर करती है। क्षण-क्षण मे दीपक की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। अत: प्रतिक्षण ज्योति भी भिन्न होती है, लेकिन ज्योतियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी वे बिलकुल अविच्छिन्न मालूम होती हैं।[५५] पुनर्जन्म सम्बन्धी कठिनाई को दूर करने के लिए भी हम दीपक का दृष्टान्त सामने रख सकते हैं। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है, किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जा सकतीं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से पृथक है। उनमें केवल कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु दोनों दो पृथक जीवन होंगे। इसी तरह पुनर्जन्म सर्वथा सम्भव है। हाँ, पुनर्जन्म का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा नित्य है और एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका प्रवेश हो सकता है। बौद्ध दर्शन, विज्ञान प्रवाह को मानता है। वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था है।[५६] इसलिए पूर्ववर्ती अवस्था का प्रभाव वर्तमान अवस्था पर अवश्य पड़ता है। इस प्रकार बिना आत्मा में विश्वास किए ही हम स्मृति का उपपादन कर सकते हैं। यह अनात्मवाद बुद्ध के उपदेशों को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। बुद्ध बराबर अपने शिष्यों से यह आग्रह करते थे कि वे आत्मा के विषय में अपने मिथ्या विश्वासों का परित्याग करें। जो आत्मा का यथार्थ रूप नहीं समझते उन्हीं को इसके विषय में भ्रान्त विचार रहता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा को सत्य मानकर उससे आसक्त होते हैं। उनकी आकांक्षा रहती है कि मोक्ष-प्राप्त करके आत्मा को सुखी बनावें। बुद्ध का कहना है कि किसी अदृष्ट, अश्रुत तथा कल्पित सुन्दरी रमणी से प्रेम रखना जैसा हास्यास्पद है वैसा ही अदृष्ट, अप्रामाणिक आत्मा से प्रेम रखना

भी हास्यास्पद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना मानो एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी तैयार करना है जिस प्रासाद को किसी ने कभी देखा तक नहीं है।[५७]

मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है। जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह वाह्य रूप युक्त शरीर वेदना और रूपहीन संज्ञा तथा विज्ञान के समूह या संघात् को सत्त्व (जीव) कहते हैं।[५८] जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तब तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। अन्य दृष्टि से मनुष्य पांच परिवर्तनशील तत्वों का संघात है। इसे ही पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कहते हैं।

अनात्मवाद का संकेत ललित-विस्तर में भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, यथा-

चक्षुरनित्यमध्रुवं तथ श्रोत घ्राणं
जिह्वाऽपि काय मन दुःखा अनात्मशून्याः।
जडास्वभाव तृष्यकुड्य इवा निरीहा
नैवात्र आत्मा न नरो न च जीवमस्ति॥[५९]

भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही अज्ञात कौणिडन्य से यह कहा है- चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा काय तथा मन ये सभी अनित्य, अध्रुव, दुःख, अनात्मक एवं शून्य हैं। ये सभी घास-फूल की बनी दीवारों वाले प्रासादों की दीवारों के समान निश्चेष्ट एवं जड़ स्वभाव के हैं। इनमें न आत्मा है न पुरूष है और न जीव ही है। इससे अनात्मवाद का संकेत स्पष्ट है। हेतु के प्रत्यय से ये सब धर्म (पदार्थ) उत्पन्न हुए हैं, ये अन्तर्दृष्टि से तथा अनन्त दृष्टि से रहित, आकाश जैसे स्वभाव के हैं। यहाँ न तो कारक अर्थात् कर्त्ता है और न तो वेदक (भोक्ता) ही है। किया हुआ शुभ एवं अशुभ कर्म है, लेकिन द्रष्टा नहीं है।[६०]

उपरोक्त विवरण के स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में अनात्मवाद का एक विशेष अर्थ है। बौद्ध न तो चार्वाक आदि के समान आत्मा का पूर्ण निषेध ही करते हैं और न तो वेद, उपनिषद के समान नित्य आत्मा को ही स्वीकार करते हैं। वे आत्मा का अस्तित्व सीधे न मानकर उसके स्थान पर पञ्च-स्कन्ध को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध की अपनी दृष्टि उल्लेखनीय है। भगवान् बुद्ध ने आत्मा के प्रश्न को ''अब्याकृत्त'' माना है। ''मिलिन्दप्रश्न'' में बतलाया गया है कि मालुक्तपुत्त ने तथागत से निम्नलिखित प्रश्न किए-

१. संसार शाश्वत है, २. अशाश्वत है, ३. अन्तवान है, ४. अनन्त है, ५. संसार अन्तवान और अनन्त है, ६. संसार न अन्तवान और न अनन्त है, ७. जीव और शरीर एक है, ८. जीव और शरीर भिन्न है, ९. मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं, १०. मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते, ११. मरने के बाद तथागत होते हैं और नहीं भी होते हैं, १२. मरने के बाद तथागत न होते हैं और नहीं होते हैं।[६१] महायान दर्शन में इनके चौदह प्रकार

हैं। भगवान् बुद्ध ने इन प्रश्नों का उत्तर हाँ या नहीं रूप में नहीं दिया। अतः बुद्ध के द्वारा ये व्याख्यात् या व्याकृत नहीं है। इन्हें अव्याकृत कहते हैं। प्रश्न यह है कि तथागत ने उनका उत्तर क्यों नहीं दिया? वे इन प्रश्नों के पूछे जाने पर मौन क्यों रह जाते थे? क्या वे इनका उत्तर नहीं जानते थे? इसका उत्तर यह है कि भगवान् इनका उत्तर जानते हुए भी उत्तर नहीं देना चाहते थे। इन प्रश्नों का शान्ति, विमुक्ति, अभिज्ञा, उपशम और निर्वाण के लिए कोई प्रयोजन नहीं। अतः ये बातें निरर्थक और बुद्ध बिना मतलब के नहीं बोलते थे।[६२] उनका कथन था कि जिसके हृदय में तीर लगा है उसे "महाभिषक" से जाकर शीघ्र तीर निकलवाना चाहिए न कि तीर मारने वाले का नाम, गोत्र, कद आदि के बारे में प्रश्न करना चाहिए। इसीलिए भगवान् इन प्रश्नों के पूछे जाने पर मौन रह जाते थे। इस मौन का तात्पर्य यह है कि भगवान् न तो उपनिषदों के समान शाश्वतवादी थे और न चार्वाक के समान उच्छेदवादी। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद तो दो अन्त हैं। भगवान् इन दोनों अन्तों का समन्वय अपने मध्यम मार्ग में करते हैं। इस मध्यम मार्ग के अनुसार न तो आत्मा का पूर्णतः भाव है और न पूर्णतः अभाव है। भगवान् बुद्ध से पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, उन्होंने विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नहीं दिया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् न तो पूर्णतः आत्मवादी थे और न तो पूर्णतः अनात्मवादी। जैसे अपने बच्चे को दाँत से पकड़ कर ले जाती हुई व्याघ्री न तो अपने बच्चे को अतिनिष्ठुरतापूर्वक दाँतों से दबाती ही है और न तो अति शिथिलता से ही। उसी प्रकार बुद्ध पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयात्मक या निषेधात्मक उत्तर नहीं देते।

अतः अन्य सिद्धान्तों के समान ही बुद्ध का अनात्मवाद भी मध्यम-मार्गी है। बुद्ध न तो ब्राह्मण दर्शन का शाश्वतवाद ही स्वीकार करते हैं और न चार्वाक दर्शन के उच्छेवाद को ही स्वीकार करते हैं। तथागत का दृष्टिकोण दोनों अन्तों का परिहार करता है।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त ललित-विस्तर में दशबल, आवेणिक धर्म[६३], शैथलिक[६४] आदि का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। इसकी कतिपय गाथाएँ कठोपनिषद एवं गीता की आत्मतत्त्व विवेचन का स्मरण दिलाती हैं, जहाँ सब धर्मों के नैरात्म्य का निर्देश हुआ है[६५], इसमें भी उन्हीं के समान इन्द्रियों को अश्वादि की भाँति बतलाया गया है।[६६]



4 - मृगदाव (सारनाथ) में धर्मचक्र, बिचली बँड़ेरी, पश्चिमी तोरण-द्वार

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-१, पृष्ठ ३५४

२. चतुन्नं अरियसच्चानं, यथाभूतं अरस्सना।
संसितं दीघमद्धानं, तासुतास्वेव जातिसु॥
तानि एतानि दिद्धानि भवनेत्ति समूहता।
अच्छिन्नं मूलं दषरपस्स नत्पि दानि पुनब्भवो ति॥
-महापरिनिब्बान सुत्त, दीघ निकाय, भाग २, पृ. ७३

३. अर्थ विनिश्चय सूत्र – सूत्र संख्या ६, पृ. १४

४. इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं, अरियसच्चं जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खो मरणं पि दुक्खं...पन्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।
– महावग्ग-धम्मचक्कप्पवत्तनसुत, पृ. १३

५. अर्थ विनिश्चय सूत्र, पृ. १४-१५.

६. ल.वि. धर्मचक्रप्रवर्तन परिवर्त, पृ. ३०३, वैद्य संस्करण, १९५८

७. ल.वि. शास्त्री, २२/गद्य भाग, पृ. ६५७, तथा २६/गद्य भाग, पृ. ७८३

८. ल.वि. शास्त्री, गद्यभाग २२, पृ. ६५७, तथा २६/गद्यभाग, पृ. ७८३.

९. जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खो, मरण पि दुक्खं, अप्पियेहि संप्रयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यं पिच्छं न लभति तंपि दुक्खं। संखित्सेन, पन्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।
– महावग्ग, धप्मचक्कपवत्तन, पृ. १३ एवं अर्थविनिश्चय सूत्र, पृ. १४-१५

१०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हिं नाथो परो सिया।
– धम्मपद, अत्तवग्गो-४

११. ललित-विस्तर, संपा. एवं अनुवादक- प्रो. शा.भि.शास्त्री, २६/द्वादशभवाङ्ग, पृ. ७८७

१२. ल. वि. –वैद्य, २६, पृ. ३०३ गद्यभाग

१३. मज्झिम निकाय, १/३/८

१४. ल.वि. शास्त्री, २२/गद्यभाग, पृ. ६५९-६६०

१५. बिसुद्ध मग्गो, सत्रहवाँ परिच्छेद।

१६. ल.वि., शास्त्री, २२/गद्यभाग, पृ. ६५९-६६०

१७. भारतीय दर्शन, डॉ. वी.एन.सिंह, बौद्ध दर्शन, पृ. २४०-२४१.

१८. ल.वि. २६, १४५७.

१९. वही, २६/१४५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५८, पृ. ७८६, ८७

२०. महावग्ग, धम्मचक्कपवत्तनं, पृ. १३

२१. योऽस्या एव तृष्णाया: पुनर्भवित्या नन्दीराग सहगतायास्तत्रतत्राभिनन्दिन्या, जनिकाया निवर्तिकाया अरोपो विरागो निरोध: अयं दुःखनिरोध।
–ल.वि., वैद्य, पृ. ३०३ एवं अ.वि.सू. पृ. १५

२२. ल.वि. २६/१४५८

२३. य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते॥

—मा.कारिका, २५/९

२४. इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनि-पटिपदा अरियसत्त्वं, अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यमधिदं सम्पादिट्ठि सम्पासंकप्यो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माजीवो, सम्मासति, सम्मासमाधि।

—धम्मचक्कपवत्तनसुत्त, महावग्गो, पृ. १३

२५. एसो व मग्गो नत्थन्जो दस्तनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेसं पमोहनं॥

—धम्मपद, २०/२

२६. अ.वि.सू., पृ. १५
२७. वही, पृ. १५
२८. विसुद्धिमग्ग–११७
२९. अर्थविनिश्चय सूत्र, पृ. १५
३०. अ.वि.सू., पृ. १५
३१. वही, पृ. १५
३२. भा.द., डॉ. वी.एन. सिंह, पृ. २५१
३३. अ.वि.सूत्र, पृ. १५.
३४. वही, पृ. १५
३५. सच्चविभंग सुत्त, मज्झिम निकाय, भा. ३,
३६. अ.वि.सू. पृ. १५
३७. भा.द., डॉ. वी.एन. सिंह, पृ. २५२-२५३
३८. ल.वि., वैद्य द्वारा सम्पादित, २६, धर्मचक्र परिवर्तन परिवर्त, पृ. ३०, गद्यभाग।
३९. अ.वि.सू., पन्चस्कन्धाः, पृ. ३
४०. रूपस्कन्धश्चक्षुरादीनि पन्चेन्द्रियाणि, रूपादयो विपयाः पन्चाविज्ञप्तिश्चेति।

—अ.वि.सू., पृ. ८८

४१. वही, पृ. ८८
४२. वही, पृ. ८८
४३. संस्कार स्कन्धः, कुशलाकुशलाव्याकृताः संप्रयुक्ता विप्रयुक्ताश्च
प्राप्त्य प्राप्तिनिकायसभागदीवितेन्द्रियादयः संसकाराः॥

—अ.वि.सू., पृ. ८८-८९

४४. रूपादिविषयोपलब्धिर्विज्ञानास्कन्धः १ —अ.वि.सू., पृ. ८९
४५. अहमित्याकारमालय विज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानमे
तद् द्वयं दण्डायमानं प्रवाहापन्नं विज्ञान स्कन्धऽत्यर्थः।

—कल्पतरु

४६. वैद्य, ल.वि., २४/५२
४७. वही, २४/४६
४८. अ.वि.सू., द्वादशायतनानि, पृ. ४ (महापरिनिब्बान सुत्त, पृ.-१२०)
४९. अनिच्चा वस सङ्खारा उपादवय धम्मिनो।
उप्पज्जित्वा निरूझन्ति, ते सं वूपसमो सुखो ति॥
५०. ल.वि., शान्ति भिक्षु शास्त्री, २१/१०४५
५१. ल.वि., शास्त्री, अभिनिष्क्रमण परिवर्त, गद्यभाग, पृ. ४१७ तथा १५/६२९

५२. तत्त्वसंग्रह, कारिका, ३८८-३८९

५३. तुलनीय– तं किं मञ्ञसि, महाराज, यादा त्वं दहरो तरुणो मन्दो उत्तानसेय्यको अहोसि, सो एव त्व एतरहि महन्तो ति ? ......इममेव कायं निस्साम सब्बे ते एकसङ्गहितां ति।

–मि. पन्हो, पृ. ३१

५४. तु. - मि. पन्हो, पृ. ३१-३२

५५. तु. मि. पन्हो, ''द्वारिको दास'', पृ. ३१

''यथा हि महाराज कोचिदेव पुरुषो पदीप पदीपये.....तं येव निस्साय सब्बरन्तिं पदीपितो'' ति।

–मि.प., पृ. ३१

५६. पुरिमविञ्ञाणे पच्छिमविन्जाण संग्रहं गच्छती ति।

–मि.प. ३२

५७. द्रष्टव्य– भारतीय दर्शन, दत्त एवं चटर्जी, पृ. १०८, पाद टिप्पणी-पौट्ठवाद सुत्व, दी..नि.भा. २, पृ. १६०-१६२

५८. यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथोहति।
एवं खन्धेतु सन्तेसु, होति सत्तो ति सम्मुति॥

–वजिस सुत्त, सं.नि., भाग १, पृ. १३५

५९. ल.वि., शास्त्री, २६/१४५१

६०. वही, २६/१४५२

६१. मिलिन्द पन्हो, पृ. ११०

६२. वही, पृ. ११०

६३. दशभिर्बलभिबलवान् वैशारद्य विशारदः।
आवेणिकैरष्टदशै अग्रयानी महामुनिः॥

- ल.वि. २६/१४९२

६४. ल.वि., शास्त्री, धर्मचक्रप्रवर्त्तन परिवर्त, गद्यभाग, पृ. ७७२

६५. ल.वि. वैद्य, २५/६, कठोपनिषद् १/२/७८, गीता २/१९-२०

६६. ल.वि. वैद्य, मारघर्षण परिवर्त, कठो.नि. १/३/४; गीता १२/६-७, १८/६६

●●

चतुर्थ खण्ड

ललित-विस्तर में वर्णित बुद्ध-चरित का कलाओं पर प्रभाव

जब कोई साहित्य या रचना लोकप्रिय होती है तो उसका प्रभाव जीवन की अनेक विधाओं पर पड़ता है और वह जनमानस पर छा जाती है तथा तत्कालीन समाज की संस्कृति को भी प्रभावित करती है। संगीत, अभिनय एवं कला इससे अछूते नहीं रह जाते। ललित-विस्तर ने बुद्ध के माध्यम से विभिन्न कलाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। अत: यहाँ पर विभिन्न कलाओं पर इसके प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

गान्धार-कला

ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दियों में अनेक यवन शासकों ने बाल्हीक से अग्रसर हो गन्धार और उत्तरापथ में शासन किया तथा उनमें से कुछ ने सद्धर्म के प्रति अपनी रूचि प्रदर्शित की।[1] मिनान्डर अथवा मिलिन्द नाम का शासक सर्वप्रसिद्ध है, जिसकी राजधानी शाकल एवं नागसेन के साथ संवाद का मिलिन्दपन्हों में विवरण प्राप्त होता है। ऐसी अनुश्रुति है कि मिनान्डर ने सद्धर्म के लिए बहुत से विहार एवं चैत्य बनवाये। उनकी कुछ मुद्राओं में चक्र के लक्षण उपलब्ध होते हैं तथा उनके लिए ध्रमिय अर्थात् धार्मिक का विरूद्ध भी मिलता है।[2] प्लूटार्क के अनुसार मिनान्डर के निधन के पश्चात् उनके दग्धशेष के लिए उनके साम्राज्य के नगरों में वैसे ही होड़ हुई जैसी स्वयं भगवान् के निधन के पश्चात् हुई थी।[3] आगाभोक्लेस नाम के यवन राजा की मुद्राओं में भी स्तूप एवं बोधिवृक्ष चिह्नित हैं। स्त्रत के यवन राजा की मुद्राओं से भी स्तूप एवं बोधिवृक्ष चिह्नित हैं। स्त्रत (स्टैटो) प्रथम के चाँदी के सिक्कों में उसे "ध्रमिक" कहा गया है। अनेक यवनों के द्वारा सद्धर्म के लिए दिए गये दानों का भी अभिलेखों में उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, इन्द्राग्निदत्त नाम के एक यवन ने नासिक में गुहा का उत्खनन करवाया था। जुन्नर में ईरिल के धर्म-दान का उल्लेख मिलता है। स्वात से एक अभिलेख में मेरिदर्ख थेउडोर दतिपुत्रक के द्वारा एक तड़ाग के दान का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यवनों की सद्धर्म में रूचि अशोक के समय से विदित होती है अशोक ने उनमें धर्म प्रचार का उल्लेख किया है तथा अपने साम्राज्य में बसे हुए उनके लाभ के लिए यवन भाषा और लिपि में अपनी "धर्म प्रशस्ति" का प्रकाशन तक किया। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने धर्मरक्षित नाम के यवन को धर्म-प्रचार कार्य के लिए चुना।

ईसा पूर्व द्वितीय एवं प्रथम शताब्दियो में गन्धार यवनों का मुख्य केन्द्र था। इसके

परिणामस्वरूप गन्धार में यवन शिल्प और बौद्ध आदर्श के समन्वय से एक विशिष्ट कला का उद्भव हुआ, जिसे ''गन्धार कला'' के नाम से जाना जाता है। ''यवन शिल्प'' का अर्थ यहाँ हेले- निस्टिक अथवा रोमन प्रभाव है। दुर्भाग्यवश गान्धार प्रतिमाओं का काल निर्णय अनिवार्यतया विवाद ग्रस्त है। कुछ विद्वान गान्धार कला की उत्पत्ति ईसा पूर्व प्रथम शती मानते हैं, कुछ विद्वान इस कला की उत्पत्ति ई. की प्रथम शती मानते हैं। यह सत्य है कि इस कला के पोषकों में यवनों के स्थान पर शक और कुषाण ही प्रमुख प्रतीत होते हैं। गान्धार-कला के विकास में यवन कारीगरों तथा उनके कारीगरी का हाथ था, न कि यवन शासकों का। पहले यह धारणा थी कि बुद्ध प्रतिमा को जन्म देने का श्रेय गान्धार कला को ही है, किन्तु इस धारणा पर सन्देह प्रकट किया गया है और यह कहा गया है कि मथुरा में बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव स्वतन्त्र रीति से और सम्भवतः गान्धार-प्रतिमा के पूर्व हुआ। ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दियों में सभी बौद्ध सम्प्रदायों में न्यूनाधिकतया बुद्ध-भक्ति का विकास हुआ। त्रिशरण-गमन तथा बुद्धानुस्मृति सर्वत्र प्रसिद्ध थी। बुद्ध भगवान् के अनुस्मरण में उन्हें अंगविद्या में विदित महापुरुष लक्षणों के अनुसार कल्पित करना स्वाभाविक था। इन लक्षणों के अनुसार ध्यान में तथागत की मानस प्रतिमा ही उनकी भौतिक प्रतिमा का पूर्वसिद्ध आदर्श थी। महासांघिकों में ''अनास्रव रूप'' की कल्पना एवं तथागत की लोकोत्तरता से प्रेरित भक्ति के भाव ने बुद्ध-प्रतिमा के उपयोग की सहायता की होगी तथा महायानिक सिद्धान्तों और भावना के विकास ने इसका समर्थन किया होगा। शैल्पिक पक्ष में यक्ष-प्रतिमा की परम्परा ने बौद्ध आदर्श को दृश्य रूप प्रदान करने में आवश्यक निर्माणविधि के द्वारा उपकृत किया होगा।[४] एक बौद्ध परम्परा के अनुसार जब तथागत त्रायस्त्रिंश लोक गये थे, प्रसेनजित ने उनकी गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बनवायी थी, जो प्रथम प्रतिमा थी। तथागत ने इसे भविष्य के लिए आदर्श बताया। यह प्रतिमा जेतवन विहार में बहुत दिन रही। दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने पिण्डोलभारद्वाज से प्रतिमोपयोगी महापुरुष लक्षण पूछे। महावस्तु में अशोक की नागराज से प्रतिमा विषयक जिज्ञासा उल्लिखित है, किन्तु ये सब परम्पराएँ श्रद्धेय नहीं प्रतीत होती।

ईसा पूर्व पहली शताब्दी में यवन शासकों का स्थान शकपल्लव शासकों ने ले लिया। इनमें मोग, वोनोनेस, स्पलहोर, स्पलगदम, अय, अयलिस तथा गुदुह्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन शासकों की जाति, तिथि तथा परस्पर सम्बन्ध विवादग्रस्त हैं। तक्षशिला से प्राप्त ताम्रपट्ट अभिलेख महाराज मोग के शासन-काल में तक्षशिला के क्षत्रपलिअक के पुत्र महादानपति पतिक के द्वारा शाक्यमुनि के शरीर तथा संघाराम की स्थापना का उल्लेख करता है। मोग की एक मुद्रा के पृष्ठ में बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण बताई गई है जो निःसन्देह नहीं है।[५] स्पलहोर तथा स्पलगदम की मुद्राओं में ''ध्रमिय'' कहा गया है, किन्तु वह सम्भवतः यवन ''दिकाइओस'' (न्यायशील) का अनुवाद मात्र. है। गुदुह्वर को ईसाई प्रचारक टामस से परिचित मानना ही सही प्रतीत होता है। मुद्राओं में उसे ''ध्रमिय'' और ''देवव्रत'' कहा गया है। कुछ में त्रिशुलधारी शिव कदाचित चित्रित है। तख्तेवाही प्रस्तर अभिलेख उनके शासन-काल के २६वें वर्ष में एक श्रद्धा-दान का उल्लेख करता है।

मथुरा में प्राप्त प्रसिद्ध सिद्ध स्तम्भ अभिलेखों से वहाँ के शक क्षत्रपों की सद्धर्म के प्रति रूचि प्रकट होती है।[६] इसमें महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी तथा अन्य राजपरिवार का सर्वास्तिवादियों के लिए विविध दान उल्लिखित हैं, जिसमें बुद्ध-शरीर, स्तूप, संघाराम, स्तम्भ एवं गुहाविहार की स्थापना का वर्णन विवरण है। इस अभिलेख में महासांघिकों का भी नामोल्लेख है।

ईसा पूर्व १३८ में तन् सम्राट् क वुति ने चँ-छिपेन को अपने दूत के रूप में यूवेची के पास भेजा, जो उस समय वंक्षु के उत्तरी तट पर बसे हुए थे, किन्तु वाल्हीक प्रदेश उनके अधीन था। चं-हियेन के ''ताहिया'' के विवरण में बौद्ध धर्म के विषय में कुछ उल्लेख प्राप्त नहीं होता। फिर भी यह स्मरणीय है कि चीनी हन् इतिहास के अनुसार ई. पू. १२१ में हूण जाति के लोगों से चीनियों ने एक ''स्वर्ण-पुरुष'' प्राप्त किया था। यह ''स्वर्णपुरुष'' सम्भवतः बुद्ध की प्रतिमा रही होगी। ऐसी स्थिति में यह मानना तर्कसंगत लगता है कि यूवे-ची ज़ाति भी उस समय अवश्य ही सद्धर्म से परिचित थी। ई० स० २ में चीनी सम्राट् आइ ने खे-जी शासक के पास एक दूत भेजा, जिसने वहाँ सद्धर्म का उपदेश सुना। खे-चि शासन ने चीनी सम्राट के पास कुछ बौद्ध ग्रन्थ तथा बुद्ध के देहावशेष भेजे।[७] पहली शताब्दी ई. में कुषाण शासक कुजुल-कस को सिक्कों में ''धर्म-स्थित'' अथवा ''सत्यधर्मस्थित'' कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी विम कथफिस माहेश्वर था। सम्भवतः इसी के समय में तक्षशिला का रजत-पट्टिका-अभिलेख मानना चाहिए जिसमें अय के १३६वें वर्ष का उल्लेख है। इसमें एक अरशवासी के द्वारा तक्षशिला में अपने बोधिसत्त्व गृह में धातु-स्थापन निर्दिष्ट है। कलवान का ताम्रपट्ट-अभिलेख इससे दो वर्षपूर्व का है और उसमें एक उपासक परिवार के द्वारा गृह-स्तूप में सर्वास्तिवादियों के परिग्रह के लिए ''शरीर'' की स्थापना उल्लिखित है।

कुषाण नरेश महाराज कनिष्क के शासन काल में कुषाण साम्राज्य मध्य एशिया से ''पूर्वी भारत'' तक विस्तृत कहा गया है। यह बौद्ध धर्म का प्रबल समर्थक था। गान्धार-कला का यह स्वर्ण-काल रहा है। राजकुल के संरक्षण और सहायता ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने में तथा स्तूप, चैत्य आदि के निर्माण में काफी योगदान किया। कनिष्क के ३रे वर्ष के सारनाथ बौद्ध प्रतिमा अभिलेख में भिक्षु बल के द्वारा भगवत् चक्रम में बोधिसत्त्व और छत्र यष्टि की प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में क्षत्रप-वनस्पर एवं महाक्षत्रप खरप्लान की पुण्य वृद्धि अभिष्ट है। इसी भिक्षु बल ने श्रावस्ती में भी एक देय धर्म प्रतिष्ठित किया था जो कि सर्वास्तिवादी आचार्यों के परिग्रह के लिए था। १८वें वर्ष के माणिकयाल प्रस्तर अभिलेख में वेश्यपशिकेदानपति दण्डनायक लल के द्वारा अनेक स्तूपों की स्थापना सूचित है। स्वयं कनिष्क ने अनेक चैत्यों एवं विहारों को स्थापित कराया। पुरुषपुर में उसका बनवाया महाचैत्य अत्यन्त प्रसिद्ध था इसका विवरण फाश्येन तथा श्वानच्वांग से प्राप्त होता है।[८] पेशावर में शाह जी की ढेरी में उत्खनन से ''कनिष्क विहार'' की सूचना प्राप्त होती है। इसमें ''नवकर्मिक अगिसल'' का नाम यनव कारीगरी का योग प्रकट

करता है। फाश्येन के अनुसार यह स्तूप ४०० इन्च से अधिक ऊँचा था तथा उसके द्वारा देखे गये स्तूपों में सबसे अधिक प्रभावशाली था। श्वानच्वांग के अनुसार यह स्तूप पाँच भूमियों में निर्मित था और इसके शिखर में २५ सुनहले मण्डल बने थे। स्तूप के पूर्वी मुख की सोपान के दक्षिण की ओर महाचैत्य की दो छोटी प्रकृतियाँ थीं तथा भगवान् बुद्ध की दो विशाल मूर्तियाँ थी। दक्षिण सोपान के निकट १६ फुट ऊँची भगवान् की मूर्ति थी। दक्षिण पश्चिम की ओर १८ फुट ऊँची एक और मूर्ति थी। श्वानच्वांग के भारत आने के कुछ पूर्व ही यह स्तूप नष्ट हो गया था। इसके निकट ही कनिष्क ने एक प्रसिद्ध विहार बनवाया था जो कि अनेक शिखर, भूमि, स्तम्भ आदि से मण्डित था। यह स्मरणीय है कि गान्धार में स्तूप का आकार मध्यभारतीय नहीं था। उसकी ऊँचाई बहुत बढ़ गई थी उसके चौकोर मूल भाग का अनेक भूमियों में निर्माण होता था जिन पर आरोहण के लिए एक या अधिक सोपान बनाई जाती थी, किन्तु वेदिका और तोरण अप्रयुक्त हो गये थे। स्तूप स्वयं प्रभूत शिल्प मण्डित होता था जिसका विषय अब जातकों से कम उद्धत होता था, बुद्ध चरित से अधिक। समस्त स्तूप एक बुर्ज सा प्रतीत होता था।

गान्धार की बुद्ध प्रतिमा में लक्षण और भाव सदा एक सा नहीं है। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध बुद्ध प्रतिमा में शिरश्चक्र, दक्षिणावर्त केश उष्णीश, उर्षा, पृथुकर्णता तथा संघाटी की सलवटें प्रदर्शित की गयी हैं।[९] इसमें शिरश्चक्र और संघाटी के आकुंचन का निरूपण यवन कल्प से अनुकृत माने जाते हैं। मूर्ति का भाव स्वप्निल, लेशन, स्त्री सुलभ सौन्दर्य का है। सहरी बहलोल से प्राप्त मूर्ति में बुद्ध की मूछें दिखायी गयी हैं।[१०] गान्धार मूर्तियों में अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रदर्शित हैं- अभय, वरद, भूमि स्पर्श ध्यान, धर्म चक्रप्रवर्त्तन आदि। पृष्ठभाग प्राय: पद्मासन अथवा सिंहासन होता है।

गान्धार में बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव कब हुआ, यह विवाद से परे नहीं है। टार्न ने मोग की एक मुद्रा में बुद्ध मूर्ति को उत्कीर्ण माना है, किन्तु यह संदिग्ध है। लोरियान तंगई अथवा हस्त नगर से प्राप्त मूर्तियों में उत्कीर्ण शब्द अज्ञात है। यदि इनमें सिल्यूकिद शब्द माना जाय तो इन्हें ई. प्रथम शती में रहना पड़ेगा। तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त साक्ष्य के आधार पर गान्धार कला के उद्गम के लिए ई. पूर्व प्रथम शती में अय का समय अथवा ई. प्रथम शती में विमकथफिश का समय सुझाया गया है। कनिष्क के पूर्व गान्धार में बुद्ध प्रतिमा का निर्माण हो चुका था यह निश्चित है।

मथुरा से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा का गान्धार प्रतिमा से सम्बन्ध अवश्य था, किन्तु एक से दूसरी का जन्म हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। मथुरा से प्राप्त बुद्ध प्रतिमाएँ सामान्यत: दो प्रकार की है जिनमें एक का उदाहरण जेतवन विहार से प्राप्त मूर्ति हैं। दूसरी का मथुरा के कटरे से प्राप्त मूर्ति। इनका भेद गान्धार कला के प्रभाव से अथवा विकास भेद से समझा जा सकता है।

मौर्य साम्राज्य पहला अखिल भारतीय साम्राज्य था एवं मौर्य सम्राट अशोक की

सहानुभूति सद्धर्म के अखिल भारतीय प्रचार-प्रसार में सहायक सिद्ध हुई। कुषाण साम्राज्य मध्य देश से हिन्दुकुश के उस पार तक फैला हुआ था। उसकी अध्यक्षता में सांस्कृतिक एवं जातीय संगम का अग्रसर होना अनिवार्य था और साथ ही गन्धार के मध्य एशिया में विस्तृत सैनिक एवं प्रसिद्ध व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे सद्धर्म का क्रमशः सुदूर तक प्रसार। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु नदी को पार करने पर फाश्येन से वहाँ के लोगों ने यह प्रश्न किया था कि सद्धर्म पूर्व की ओर सर्वप्रथम कब प्रसारित हुआ। इसके उत्तर में फाश्येन ने कहा- मैंने जब उस देश के लोगों से यह प्रश्न किया तो उन सबने यह कहा कि उनके पास सद्धर्म प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ है और मैत्रेय बोधिसत्त्व की प्रतिमा की स्थापना के उत्तर काल में भारतीय-भ्रमणों ने सिन्धु नदी पार करके विनय और सूत्र ग्रन्थों को वहाँ तक पहुँचाया। यह स्मरणीय है कि प्रतिमा परिनिर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् स्थापित की गयी और उसे चाऊ वंश के प्रिंग सम्राट के समय से रखना चाहिए। उस विवरण के अनुसार इस घटना में प्राची की ओर सद्धर्म का सर्वप्रथम प्रचार-प्रसार मानना चाहिए। यदि मैत्रेय महापुरुष की प्रेरणा न रही होती तो सद्धर्म को सुदूर प्रत्यन्त प्रदेशों तक कौन पहुँचाता। इस प्रकार अद्भुत धर्म-प्रचार का कारण केवल मनुष्य का यत्न नहीं हो सकता। इसलिए हन् सम्राट मिं के स्वप्न को भी उचित हेतु मानना चाहिए।[११]

चाऊ वंश के सम्राट का उल्लेख फाश्येन की ऐतिहासिक काल गणना में अप्रविणता प्रदर्शित करता है। किन्तु यह अनुश्रुति विचारणीय है कि परिनिर्वाण के ३०० वर्षो के पश्चात् सद्धर्म की प्राची यात्रा प्रारम्भ हुई और इसके अधिष्ठाता मैत्रेय थे। मैत्रेय की उपर्युक्त प्रतिमा को फाश्येन और श्वान् च्वांग ने "दरेल" में देखा था। श्वान्-च्वांग ने इसे १०० फीट उँचा काष्ठनिर्मित तथा स्वर्णिम बतलाया है। इसकी स्थापना अर्हत् मायान्तिक ने की थी।[१२] यह स्मरणीय है कि मध्यान्तिक अशोक कालीन धर्म विस्तारकों में अग्रगण्य है।

गुप्तकाल को बौद्ध धर्म प्रसार एवं कला का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उस समय मध्य एशिया के अतिरिक्त फाश्येन ने उत्तरापथ और मध्य देश में बौद्ध धर्म की समृद्धि का उल्लेख किया है जिसका पुरातत्त्वीय सामग्री से समर्थन होता है। बामियान में शैल-पार्श्व पर एक मील तक विहार और चैत्य उत्खात मिलते हैं। इस वास्तु-प्रस्तार के दोनों ओर बुद्ध की दो विशालकाय खड़ी मूर्तियाँ हैं। पूर्व की ओर १२० फीट ऊँची और पश्चिम की ओर १७५ फीट ऊँची। इन्हें तीसरी से चौथी शताब्दियों में रखा गया है। बामियान के गुहावास्तु में विविध परिमण्डल शिखर प्राप्त होते हैं। यहाँ से मूर्तियाँ और भित्ति चित्र भी प्राप्त हुए हैं। चित्रों में तीन शैलियाँ बतायी गयी हैं- सासांनी, भारतीय और मध्य एशियायी। भारतीय शैली अजन्ता की गुप्त कालीन चित्रकला से सादृश्य प्रकट करती हैं। कपिशा (आधुनिक वे ग्राम) में पुरातत्त्वीय खोज में कुषाण कालीन राजप्रासाद से देश-विदेश से व्यापार के अवशेष प्रकाशित किए हैं। यहाँ रोम साम्राज्य से आयात धातु की मूर्तियाँ, शाम से कांच के समान तथा चीन से "लेकर" के डिब्बे मिले हैं। तीसरी चौथी शताब्दी के गान्धार शिल्प के पर्याप्त चिह्न मिलते हैं। यहाँ से प्राप्त हाथी दाँत के उत्कीर्ण फलक उल्लेखनीय

हैं। प्राचीन नगरहार जनपद के आधुनिक हड्डा नामक स्थान से १९२२ की फ्रांसीसी पुरातत्त्वीय गवेषणा में बहुत-सी अमूल्य शिल्पराशि प्राप्त हुई है, जिनमें से कुछ जलालाबाद में अफगानों के द्वारा नष्ट भी कर दीं गयी। नगरहार की गान्धार कला में सुधार प्रलेप (स्टको) का महत्व था। यहाँ की मूर्तियों की तुलना "गोमिक" मूर्तियों से की गयी है। इसमें वैयक्तिकता, भाव व्यंजना तथा रोमन प्रभाव द्रष्टव्य है। कभी पुरूषपुर में ४०० फीट ऊँचा कनिष्क स्तूप था जिससे अधिक समृद्ध और सुन्दर स्तुप फाश्येन ने अपनी यात्रा में कहीं नहीं देखा था।[१३]

फाश्येन के अनुसार आर्यावर्त के सब राजा सद्धर्म में श्रद्धालु थे, जबकि गुप्त नरेश वस्तुत: "परम भागवत्" थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तों की धार्मिक नीति अत्यन्त उदार थी। फाश्येन ने मध्य देश के शासन और समाज की बहुत प्रशंसा की है। यहाँ के विहारों के सम्बन्ध में उसका कहना है कि परिनिर्वाण के समय से विभिन्न राजा एवं धनी गृहपति भिक्षुओं के लिए विहारों का निर्माण कराकर उनके लिए क्षेत्र, गृह, उद्यान एवं आराम आदि का दान करते रहे हैं। उस प्रकार की दी हुई भूमि में रहने वाले लोग और पशु आदि भी इन विहारों के अधीन माने जाते थे। ये दान धातुमयी पट्टिका पर उत्कीर्ण होते थे और इनका पीढ़ी दर पीढ़ी राजाओं के द्वारा आदर किया जाता था।[१४]

गुप्तकाल में मथुरा का कुषाणकालीन महत्व घटा नहीं था। यहाँ के शिल्प अवशेषों को देखने से पता चलता है कि पाँचवी और सातवीं शताब्दियों के मध्य कला का जो स्वर्ण युग विदित है उसमें मथुरा की बौद्ध प्रतिमाओं का अपना सुरक्षित स्थान है। गुप्त कालीन कला के परिष्कार और परिनिष्पन्न सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि इस समय की बुद्ध-प्रतिमा विश्व कला की चिरन्तन कृतियों मे गिनी जायगी। सामान्यत: गुप्त कालीन बुद्ध-प्रतिमा में शीर्ष के प्रभा चक्र में एक केन्द्रित वृत्तों में अलंकरण उत्कीर्ण होते हैं, केश सावर्त प्रदर्शित किए जाते हैं। ऊर्णा का प्रदर्शन नहीं होता, भौंहो का आलेखन निराला है। नयन कुड्मलाकार होते हैं, अंगुलियों का जालबद्ध निरूपण होता है, नख-शिख बारीक, मुखाकृत शान्त और प्रसन्न, परिधान का तनु मग्न रूप में अर्थात् "मग्नाशुक" के रूप में निरूपण तथा अनेक मुद्राओं का प्रदर्शन किया जाता है। मध्य देश में इस समय बौद्ध-प्रतिमाओं के दो महत्वपूर्ण केन्द्र थे- मथुरा और सारनाथ। इन मूर्तियों में "मग्नाशुक" के निरूपण में शैली भेद देखा जाता है। कुछ मूर्तियों में वस्त्र का संकेत केवल उसके प्रान्त निर्देश से होता है, कुछ में महीन रेखाओं से वस्त्र की सलवटें प्रदर्शित की जाती हैं। पहली शैली का उदाहरण धर्म-चक्रप्रवर्तन मुद्रा में सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध मूर्ति है जिसे सब समय की उत्कृष्ट कलाकृतियों में रखना चाहिए। दूसरी शैली का उदाहरण मथुरा से प्राप्त बुद्ध की खड़ी मूर्ति है जिसमें अभय मुद्रा प्रदर्शित है और जो अब इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता में सुरक्षित है।

श्वान-च्वांग ने अजन्ता के भित्ति चित्रों और गुहावासों का उल्लेख किया है, जिनका निर्माण कराने में अपरान्त के अर्हत् अचल का भी हाथ था। अजन्ता की २९ गुफाओं में विभिन्न युगों के उत्खात विहार एवं चैत्य प्राप्त होते हैं। पहले इनमें से अधिकांश में

भित्तिचित्र थे किन्तु जबसे ये गुफाएँ आविष्कृत हुई हैं, हवा और रोशनी के प्रभाव से अधिकांश चित्र विनष्ट हो चुके हैं अथवा हो रहे हैं। अजन्ता की चित्रकला मध्य भारतीय उत्कीर्ण-चित्र की परम्परा का विकसित और परिष्कृत रूप है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के चित्र अंकित हैं तथा निरूपण-विधि सदृश है क्योंकि समान आलेख्य प्रदेश में अनेक घटनाओं का चित्रण तथा आगे पीछे की वस्तुओं का अयथार्थ रूप से नीचे ऊपर प्रदर्शन यहाँ भी पाया जाता है। भित्ति में चित्रों का विभाजन प्रायः चित्रित व्यक्तियों के केन्द्र की ओर आभिमुख्य से सूचित होता है। पशु-पौधों के चित्रण में प्रकृति का प्रेम तथा जनसंकुल और उल्लसित जीवन की अभिव्यक्ति भी साँची का स्मरण दिलाती है। अजन्ता के चित्रों में नगर और अरण्य के विविध दृश्य एक आध्यात्मिक आशय से अनुप्राणित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर में बोधिसत्त्व के आर्श का अनुसरण सम्भव है जिसके द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति अभीष्ट है। गुफा की दीवारों में चित्रित बोधिसत्त्व लीला मानो चैत्यान्त में प्रतिष्ठित बुद्ध की ओर प्रत्यक्ष संकेत है।

चित्रण के पहले गुफा की शिलामयी सतह पर गोबर, तुष, शिला चूर्ण आदि का लेप किया जाता था। उसके ऊपर चूने का लेप होता था तथा आलेखन के पूर्व आलेख्य भूमि को जल-सिक्त किया जाता था। उन्मीलन में प्रयुक्त रंग कुछ ही थे जिनमें लाल और नीला प्रधान थे। कहा भी गया है, "रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः" आचार्यगण रेखा के सहारे चित्र आँकते हैं। इस कसौटी पर अजन्ता के चित्र अपना सानी नहीं रखते। गुहाभित्ति की विपुल भूमि पर जिस निर्बाध, निशंक और निर्दोष रूप से रेखाएँ खीची गई हैं, और उनके सहारे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की व्यंजना की गई है, उसकी समुचित प्रशंसा अथवा वर्णन असम्भव है। यों तो एशिया की चित्रकला में सर्वत्र रेखा का प्राधान्य है, किन्तु अजन्ता के रेखांकन में अपनी विशिष्टता है। फारसी चित्रों में रेखा मानों बारीक सजावट की रेखा है। चीनी चित्रों में रेखा एक व्यंजक संकेत मात्र है। अजन्ता में रेखा मानों कि महाकाव्य का छन्द है।

बौद्ध चित्रकला के लिए अजन्ता एक शाश्वत प्रेरणा थी, मध्य एशिया में दन्दान उत्विक, किजिल, मिरान और तुन ह्वंग तक उसके प्रभाव का विस्तार आलक्ष्य है। यहीं नही जापान के प्रसिद्ध, पर अभाग्यवश विनष्ट भित्ति चित्रों पर अजन्ता की परम्परा देखी जा सकती थी। शहरी बहलोल के उत्तर तखत-ए-बाडी में स्तूप और विहार मिले हैं जिनमें बुद्ध और बोधिसत्त्व की महाकाय मूर्तियाँ उनके जीवन दृश्य और कुबेर हारीती के शिला पट्ट भी पाये गये हैं। चार सद्दा के दक्षिण काबुल नदी के इस पार शाह जी की ढेरी नामक स्थान में, जो नए मार्ग पर था, कनिष्क द्वारा निर्मित महास्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। उसके धातुगर्भ में सोने का पानी चढ़ाई हुई एक ताम्र मंजूषा, जिसकी ऊँचाई ७ १/२ इंच थी, मिली है[१५] जो कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उसके ढक्कन के ऊपर अन्जली मुद्रा में खड़े हुए दाहिनी ओर इन्द्र और दाई ओर ब्रह्मा के बीच में पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध की छाया मण्डल से युक्त मूर्ति है और ढक्कन की जमीन एक बड़े कमल की खिली

हुई पंखुड़ियों से भरी है। बुद्ध के दोनों कंधों पर संघाटी है। ढक्कन के खड़े कगार पर उड़ते हुए हंसों की पंक्ति है। मूंजषा के कगार पर मालाधारी देव या कंधों पर माला उठाए छोटे यक्षों का अलंकरण है जिसकी लचक के बीच में बैठे हुए बुद्ध की तीन आकृतियाँ ध्यान मुद्रा में हैं, और दाहिनी ओर सूर्य और बाईं ओर चन्द्र देवता के बीच खड़ी कनिष्क की मूर्ति भी अंकित है। मंजूषा पर एक लेख है जिनमें कनिष्क और अगिशल नामक (यूनानी) नवकार्मिक का उल्लेख है।

सहरी बहलोल में एक स्तूप पाया गया है जिसमें गचकारी की अनेक बुद्ध मूर्तियाँ कोरिन्थ शैली के लघु स्तम्भों के चौकठे में बनी हुई थीं। इस स्थान में बुद्ध मूर्तियों का एक भण्डार ही मिला है, जैसे बुद्ध, बोधिसत्त्व बुद्ध के जीवन के दृश्य यथा- जन्म, सम्बोधि, धर्म चक्रप्रवर्तन[१६], परिनिर्वाण[१७] असित द्वारा भविष्य-कथन, काश्यम का धर्मपरिवर्तन[१८]। पहले रिक्त आसन[१९] तथा पदचिह्नों[२०] की जो पूजा होती थी वह अब मूर्तियों ने ले लिया था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बहुत संख्यक निर्माण, देशगत विस्तार, देशकाल में विस्तृत व्यापकता, संस्कृतियों के परस्पर सम्मिलन, शैलियों के समन्वय और मानवीय सहृदयता के कारण गन्धार कला की गणना विश्व की महती कलाओं में होना चाहिए। एशिया की भूमि पर अनेक गुणों से भरा हुआ यह एक महान पात्र ही बन गया था। यह सौभाग्य की बात थी कि भारत की कला के साथ भी इस कला का सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार गन्धार, कापिशी, वाह्लीक और कम्बोज ये महा जनपद भारतीय भूगोल के अंग थे वैसे ही गन्धार कला भी अपनी सब विभिन्नताओं को लिए हुए भारतीय कला का ही अंग है। भारत के उत्तरापथ के ऊपरी छोर पर इस प्रकार की बहुमुखी कला और संस्कृति का जन्म होना ही चाहिए था। गन्धार कला ने उसकी पूर्ति की। वह भारत की कला लक्ष्मी का पार्श्ववर्तिनी थी जो बुद्ध के महान जीवन की प्रेरणा लेकर आगे बढ़ी, जैसे स्वयं मध्य देश की कला भी थी।

गन्धार प्रदेश की सांस्कृतिक आत्मा बौद्ध धर्म में बद्धमूल थी। इस धर्म के सिक्के को लेकर वह मध्य एशिया और चीन तक अपने प्रभावों के साथ फैल गई जैसा चीन की पश्चिमी सीमा तुङह्वांङ नामक स्थान में सहस्र बुद्ध गुफाओं की मूर्तियों एवं चित्रों से विदित होता है। उस समय सहस्रों चीनी और तुर्किस्तान के भिक्षु और गृहस्थ गन्धार और भारत देश की यात्रा के लिए आते थे और यहाँ के बौद्ध धर्म से स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर स्वदेश लौटते थे। इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सूत्र बुने जाते थे।

गन्धार के शिल्पियों ने मथुरा और मध्य देश की कला से कुछ अभिप्राय लेने का प्रयत्न किया, जैसे- शालभन्जिका मूर्तियां, पर इसमें वे सफल नहीं हुए। भारतीय शैली के स्तम्भ भी उतने अच्छे नहीं बन पड़े और पूर्ण घट आदि अलंकरणों में भी वह शोभा न आ सकी जो मध्य देश की कला में है।

इस कला के यूनानी अभिप्राय और विषयों के अंकन बहुत ही सफलता पूर्वक किये गये हैं।

बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक दृश्यों का अंकन बड़े उत्साह से सजीव शैली में किया गया है और यह उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की उत्कट भावना के अनुरूप है। किन्तु यह स्वीकार करना आवश्यक है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के मुख अध्यात्मक भावना से शून्य है और उनमें योगीश्वर-बुद्ध की उस छवि का अभाव है जो मथुरा की अन्तर्मुखी बुद्ध मूर्तियों में पायी जाती है।

मथुरा कला

प्राचीन काल में मथुरा उत्तरी भारत के कला का बहुत बड़ा केन्द्र था, जिसका समृद्धि-काल पहली शती ईसवी से तीसरी शती ईसवी तक था। यह परम्परा लगभग सातवीं शती तक चलती रही। कुषाण-युग में शिल्प-कर्म और प्रतिमा-निर्माण के लिए मथुरा की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। मथुरा के शिल्पियों ने सहस्रों मूर्तियों की रचना की, जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं। उसी परम्परा में कुषाण युग में बोधिसत्त्व, बुद्ध, नाग, यक्ष और देवताओं की विशालकाय मूर्तियों का निर्माणकार्य आगे बढ़ा। मथुरा से मुर्तियों का दूसरे स्थानों को निर्यात भी होने लगा। मथुरा बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मो का केन्द्र था, जिससे यहाँ तीनों कलाओं के अवशेष प्राप्त होते हैं। मथुरा-कला का स्वर्ण युग कुषाण सम्राट् कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का राज्यकाल था, जिसकी तुलना में भारतीय कला के बहुत कम युग देखे जाते हैं। मथुरा के शिल्पियों ने भरहुत और साँची के आचार्यो की कला का अनुकरण किया और उसे नई शैली के द्वारा विकसित किया तथा सौन्दर्य में उस कला को और आगे बढ़ाया। मथुरा शिल्पियों के हाथों में शिल्पकला सचमुच ललित कला बन गई और उसकी शोभा का स्तर बहुत ऊँचा हो गया।

मथुरा कला के विषय

मथुरा के शिल्पियों ने बुद्ध-प्रतिमा के रूप में विश्व कला की सबसे बड़ी विशेषता प्रकट करके दिखाई। उन्होंने पहली बार बुद्ध को मानव के रूप में प्रदर्शित किया। मथुरा-कला से पूर्व केवल बोधिवृक्ष, भिक्षापात्र, उष्णीष, स्तूपादि प्रतीकों से बुद्ध का चित्रण किया जाता था। बुद्ध की प्रतिमा मथुरा शिल्पियों की सबसे ऊँची मौलिक देन थी, जिसका भारत के साथ-साथ विदेशों में भी स्वागत हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार में उससे बड़ी सहायता प्राप्त हुई। पुराने चैत्य गृह और उनके मुख-मण्डल नई-नई बुद्ध प्रतिमाओं से भर दिए गये।

मथुरा के शिल्पियों को ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियों के प्रथम निर्माण का श्रेय भी प्राप्त है। सम्भवत: बुद्ध-मूर्तियों से भी पहले उन्होंने ब्राह्मण धर्म की विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ बनाई, जो मथुरा से प्राप्त होती हैं। मथुरा शिल्प कला में, हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों के रूपों की पुष्कल सामग्री है, जिसका

अध्ययन - किए बिना ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियों का अध्ययन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जैन मूर्ति शिल्प के विषय में भी पूरा श्रेय मथुरा को है, क्योंकि सबसे प्राचीन जैन प्रतिमाएँ और स्तूप मथुरा में ही प्राप्त हुए हैं।

ललित-विस्तर में वर्णित बुद्ध-चरित का वृत्तान्त उत्तरी भारत के बौद्ध कलाकारों को अवश्य ज्ञात प्रतीत होता है, जिन्होंने ग्रीको बुद्ध-शिला-मूर्तियों को बुद्ध जीवन के दृश्यों से सुशोभित किया गया था। यद्यपि इन बौद्ध कलाकारों ने इस मूल ग्रन्थ के आधार पर नहीं, प्रत्युत जीवित मौखिक परम्पराओं के अनुसार ही अपना कला-कार्य सम्पादित किया था, फिर भी उन कलाओं एवं इस ग्रन्थ में अंकित दृश्यों का इतना निकट का सम्बन्ध है कि यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि साहित्यिक परम्परा भी किसी समय कला द्वारा प्रभावित होती रही, क्योंकि कला एवं साहित्य दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव सदैव दृष्टिगोचर होते हैं।

अशोक कालीन प्राचीन बौद्ध कलाएँ जैसें- भरहुत, साँची आदि बुद्ध मूर्ति से नितान्त अपरिचित थीं। उनका उद्देश्य धर्म संस्थापक बुद्ध का प्रतिनिधित्व करना नहीं, अपितु उनके स्थान पर उस प्रबल व्यक्तित्व के ''चिह्न'' (चक्र) की स्थापना करना था। इसके विपरीत गान्धार-कला का लक्ष्य बुद्ध के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करना था। गान्धार-कला के समय में बुद्ध भक्ति के विषय बन गये थे तथा बुद्ध-पूजा बौद्ध धर्म का केन्द्र बिन्दु स्वीकार की जाने लगी थी। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि गान्धार-कला का विकास काल ई. की प्रथम दो शताब्दियों में हुआ। इसी समय में प्रारम्भिक महायान-मूल-ग्रन्थों, जिनमें बुद्ध वृत्तान्त वर्णित है; की रचना हुई। जिस प्रकार परवर्ती भारतीय धर्म और लिपि का उद्‌गम सिन्धु-सभ्यता से होता है, उसी प्रकार भारतीय कला की परम्परा का भी मूल उद्‌गम सिन्धु सभ्यता में ही मानना चाहिए।[२१]

वैदिक काल में यह परम्परा विच्छिन्न-सी प्रतीत होती है, परन्तु उत्तर वैदिक काल से यह परिस्थिति क्रमशः परिवर्तित हुई और अनेक कारणों से अशोक के काल में कला का पुनर्जन्म हुआ। इन कारणों को तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है- (१) कला के पोषक सामाजिक वर्ग का उदय, (२) कारीगरी का विकास, (३) धार्मिक प्रेरणा का प्रभाव। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से नगर-जीवन, धनिक वर्ग तथा राज दरबारों के अभ्युदय के साथ वास्तुकला तथा विविध शिल्पों का पुनरूज्जीवन स्वाभाविक था। कुछ शताब्दियों तक यह कला राजाओं के राज प्रासादों तक, यथा चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का प्रासाद इसके एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में स्मरणीय है, सीमित रही। हाँथी, दाँत, काष्ठ आदि के शिल्पों ने इस युग में पर्याप्त प्रगति की। धीरे-धीरे श्रेणियों के विकास ने शिल्पियों को संगठन शिक्षा एवं परम्परा प्रदान की, जिससे कला में निपुणता का विकास सम्भव हुआ। अपने समर्थक धनिकों और शासकों के अनुग्रह से बौद्ध विहारों की समृद्धि बढ़ी तथा कालान्तर में वे स्वयं कला के पोषक बन गये और कला धर्म-प्रचार का माध्यम हो गई।

कला और धर्म का यह समन्वय एक विशाल आध्यात्मिक क्रान्ति का द्योतक था। धर्म की जनसुलभ एवं भक्ति प्रधान धारा के विकास में कला ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। बौद्ध विहार एवं स्तूप बौद्ध कला के प्राचीनतम विषय थे। विनय में पाँच प्रकार के शयनासनों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्हें विहार, अर्धयोग, प्रासाद, हर्म्य एवं गुहा कहा गया है।[२२] इनमें गुहा का परवर्ती कला के दृष्टिकोण से विशेष महत्व है। वस्तुत: विहार भिक्षुओं के संवास थे, प्राकृतिक गुहावास का प्रयोजन एकान्त चर्या थी। कृत्रिम गुहात्मक विहारों ने कालान्तर में आवासिकता तथा एकान्तचर्या का विचित्र समाधान प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में पौर्वापस्थित दारुनिर्मित विहार की रचना का अनुकरण करके पहाड़ियों को काटकर गुफा निर्माण किया गया। इस प्रकिया में क्रमश: प्रस्तर-कला का विकास स्वाभाविक था। स्तूप परिनिर्वृत्त तथागत का प्रतीक था, अतएव स्तूप अथवा चैत्य की पूजा के प्रचलित होने पर कालान्तर में चैत्य-गृहों का निर्माण हुआ। धीर-धीर स्तूपों के आकार का वर्णन, उनकी चिरस्थिति के लिए प्रस्तर का उपयोग तथा उनके अलंकरण के लिए कलात्मक परिष्कार का आधान विकास के क्रम में स्वभावत: सिद्ध होते हैं।

अशोक पूर्वकालीन बौद्ध कला के उदाहरण प्राय: प्राप्त नहीं होते। मौर्य शुंग-काल का बौद्ध प्रस्तर शिल्प काष्ठ-शिल्प का अनुकरण करता है तथा मौर्य के पहले की किसी प्रस्तर-कला का अवशेष प्राप्त नहीं होता। अतएव यह कहा जा सकता है कि अशोक कालीन प्रस्तर कला को मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी सम्पर्क का परिणाम मानना चाहिए[२३], लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि अशोक कालीन कला की मुख्य प्रेरणा बौद्ध धर्म के विकास से ही प्राप्त थी।

बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४००० स्तूप तथा बहुसंख्यक विहारों का निर्माण कराया, जिसे चीनी यात्रियों ने भी स्वीकार किया है, लेकिन दुर्भाग्यवश वर्तमान समय में इनमें से किसी का भी अवशेष प्राप्त नहीं होता। खलतिक पर्वत में अशोक दत्त नामक एक गुफा का पता चलता है। इस गुफा की दीवारों पर चमकीला पालिश विस्मयास्पद है। अशोक के स्तम्भों में भी यही चिकनाई और चमक मिलती है। ये स्तम्भ वृत्ताकार हैं तथा पृथ्वी से विना किसी आधार के ही उद्गत होकर ऊपर की ओर कुछ पतले हो जाते हैं। स्तम्भाग्र के सामान्यतया तीन भाग हैं- मूल अधोमुख कमल के आकार का है। मध्य में आवर्त वर्तुल पट्टिका पर धर्म-चक्र, हंस-श्रेणी, अश्व, वृषभ आदि निरूपित हैं। शिरो भाग में सिंह, गज अथवा वृषभ आदि की मूर्ति निर्मित है। उदाहरण के लिए सारनाथ के सिंहाग्र स्तम्भ के शीर्ष भाग की मध्य पट्टिका चार धर्म-चक्र और उनके अन्तराल में गज- वृषभ, अश्व और सिंहतक्षित हैं तथा सर्वोपरि किसी समय चार सिंहों पर धर्म चक्र प्रतिष्ठित था। यहाँ पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन का संकेत आसानी से देखा जा सकता है। सिंह और गज शाक्य मुनि के प्रतीक हैं, हंस-श्रेणी विनेयजन को इंगित करती है। पद्म न केवल प्रसिद्ध अलंकरण है अपितु उसकी आध्यात्मिक व्यंजकता भी गंभीर एवं विविध है। अश्वादि को दिशा वाचक माना जा सकता है। अशोक के स्तम्भों में पशुओं का

तक्षण निर्दोष एवं रमणीय है। कदाचित ही कला के किसी युग में इससे चारूतर निरूपण प्राप्त हों।

मौर्य राज वृहदथ को मार कर स्वयं उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म के अनुकूल नीति से असन्तुष्ट ब्राह्मणों का नेतृत्व किया। पुष्पमित्र शुंग बौद्ध धर्म के प्रतिकूल था। दिव्यावदान एवं तारानाथ ने भी पुष्पमित्र शुंग को बौद्ध विरोधी बतलाया है।[२४] बौद्ध धर्म विरोधी पुष्य मित्र शुंग ने पाटलिपुत्र मे अनेक विहारों एवं स्तूपों को नष्ट किया था भिक्षुओं का वध करते हुए शाकल में उसने प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के शिर के लिए १०० दीनार देने का घोषणा की।

शुंगों की प्रतिकूलता से सद्धर्म का अधिक ह्रास नहीं हुआ, इसका प्रमाण भरहुत और साँची के स्तूप हैं। भरहुत के शिल्प में प्रस्तर-तक्षण काष्ठतक्षण के निकट हैं और आकृतियों का उकेरना इतना निपुण नहीं है कि उनकी औपादानिक जड़ता जीवन्त भाव-भंगिमा में सर्वथा विलीन हो जाय। फिर भी यह पहला अवसर था कि बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित साधारण जनता के सम्मुख चित्रों की सर्वसुगम भाषा में प्रत्यक्ष हो उठते थे। इसमें बुद्ध के रूप-काय का चित्रण न करके उसके स्थान पर विधि प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण स्वरूप बोधिवृक्ष एवं स्तूप क्रमशः सम्बोधि तथा निर्वाण को सूचित करते हैं। बुद्ध ने अपने को मनुष्य, देवता, यक्ष, आदि सबसे विलक्षण "बुद्धमात्र" बतलाया था।[२५] उनका दर्शन भौतिक देह के सहारे न होकर धर्म के दर्शन से ही हो सकता है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काय है।[२६] परिनिर्वाण के पश्चात् रूपकाय नष्ट हो गया एवं बुद्ध की स्थिति अनिर्वाच्य एवं अपरिभाष्य हो गयी। कदाचित् रूपकाय की अनुपयोगिता एवं धर्ममय वास्तविक बुद्ध की अप्रत्यक्षता के कारण भरहुत एवं अन्यत्र उनका दैहिक चित्रण न करके प्रतीकों का सहारा लिया गया है।

बुद्ध की मूर्ति का जन्म कब और कैसे हुआ, यह प्रश्न कला और धर्म की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। बुद्ध मूर्ति का जन्म एक आकस्मिक और असम्बद्ध घटना न थी, उसके पीछे कई मूल कारण थे। बुद्ध-मूर्ति का जन्म गान्धार या मथुरा में हुआ इस सम्बन्ध में भी मतभेद रहा है। इस विषय पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा रहा है- (१) धार्मिक पृष्ठभूमि, (२) बुद्ध-मूर्ति की रचना के विविध अङ्गों के इतिहास। धार्मिक दृष्टिकोण से कोई मूर्ति तब तक नहीं बनाई जाती जब तक की उसकी धार्मिक मांग एवं महत्त्व न हो। धार्मिक भावना की पुष्टि के लिए ही मूर्ति की कल्पना होती है। प्रथम शती ईसा पूर्व में भागवत धर्म का भक्ति आन्दोलन मथुरा में अपने तीव्र वेग में था, जिसमें भगवान् वासुदेव एवं संकर्षण की पूजा मुख्य थी। इस भक्ति धर्म आन्दोलन से बौद्ध धर्म तथा बौद्ध भी प्रभावित हुए। भगवत् धर्म के महान् आन्दोलन का विस्तृत मण्डल मथुरा केन्द्र के चारों ओर २०० मील के घेरे में फैला हुआ था। स्वयं मथुरा में भी वलराम की कई मूर्तियाँ मिली हैं, जिससे मथुरा के भागवत् धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। शैली की दृष्टि से यहाँ की मूर्ति दूसरी शती ईसा पूर्व के उत्तर भाग में बनाई गई होगी।

भक्ति धर्म, भागवत् आन्दोलन, संकर्षण वासुदेव की पूजा, उनके लिए देवगृह और मूर्तियों का निर्माण, इन सबका प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा, जिसके कारण उन्हें भी बुद्ध-मूर्ति के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। बौद्धों के लिए यह सम्भव न था कि वे अधिक समय तक मूर्ति के धार्मिक पूजन के प्रति निरपेक्ष रहते। जबकि उनके मध्य में निरन्तर जैन और ब्राह्मणों की देव-मूर्तियों की चर्चा हो रही थी, बौद्धों की तृप्ति केवल प्रतीक पूजा से न हो सकीं। अत: बुद्ध को मानव के मूर्त रूप में देखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसी भावना से बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ।

बौद्ध धर्म मूर्ति-निर्माण से पर्याप्त समय पूर्व भक्ति आन्दोलन का आरम्भ हो गया था, मूर्ति-निर्माण से पूर्व केवल प्रतीकों द्वारा बुद्ध का अंकन किया जाता था। जब प्रतीक पूजा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई तब मूर्ति के लिए उचित अवसर उपस्थित हो गया। प्रारम्भ काल में भरहुत साँची एवं बोध गया में बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं थी। मथुरा में प्रतीक और मूर्ति दोनों का सह-अस्तित्व पाया जाता है। ऐसे उदाहरण जहाँ प्रतीक और बुद्ध की मूर्ति एक साथ अंकित है, संक्रान्ति काल लक्षित होता है। प्रतीक और मूर्ति के विषय में इस प्रकार की जाग्रत चेतना न गान्धार में है और न कहीं अन्यत्र। मथुरा कला में बोधि वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चूड़ा, भिक्षा-पात्र आदि प्रतीकों की पूजा का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। उसी के साथ बुद्ध और बोधिसत्व मूर्तियों की कल्पना बड़े-वृहद् रूप में पायी जाती है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में इस्लाम और आर्य समाज की तरह मूर्ति-पूजा का सर्वथा अभाव था। सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्ति का निर्माण कनिष्क के राज्य-काल में हुआ। इन पर कुषाण संवत् में तीथियाँ दी गई। कनिष्क ने ही सर्वप्रथम ऐसे सिक्के चलाये जिन पर बुद्ध की मूर्तियाँ हैं और उनकी पहचान देते हुए ''बोड्डो'' यह नाम ग्रीक अक्षरों में लिखा है।

सारनाथ में महाकाय बोधिसत्त्व-मूर्ति (ऊ. ९ फुट ५ इंच) की स्थापना कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल द्वारा की गई[२७]। इस मूर्ति के साथ उतनी ही ऊँची एक पत्थर की लाट और एक विशाल छत्र भी मिला था जो उस लाट के सहारे बोधिसत्त्व के ऊपर लगा था।[२८] इसके बाह्य आकार से ही बोधिसत्त्व के महाप्राण उदार व्यक्तित्व और अपार संकल्प शक्ति का बोध होता है। सारनाथ की बोधिसत्त्व-मूर्ति के समकक्ष एक दूसरी मूर्ति कौशाम्बी से मिली है, जो कनिष्क के राज्य के दूसरे वर्ष की है और मथुरा के लाल चकत्तेदार पत्थर की उसी तरह की है, पर आकार में उससे कुछ छोटी है। विशाल काय-परिमाण की अन्य बोधिसत्त्व प्रतिमा कनिंघम के गोडा जिले में प्राचीन श्रावस्ती से मिली थी। यह मथुरा के पत्थर की बनी और अभिलेख के अनुसार उन्हीं त्रिपिटकाचार्य बल के द्वारा स्थापित की गई थी। इन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि जैसे ही कनिष्क सिंहासन पर बैठा, मथुरा के शिल्पी बोधिसत्त्व की महाप्रयाण मूर्तियाँ बनाने लगे।

बुद्ध को मूर्ति के रूप में प्रदर्शित करने का जो प्रतिषेध पहले से चला आ रहा

था उसका भी एक स्वाभाविक समाधान मिल गया। बौद्ध लोग भागवत भक्ति-धर्म से प्रभावित होकर मूर्ति बनाने के अवसर की ताक में पहले से ही थे। अत: ज्योंही बौद्धधर्मानुयायी कनिष्क सिंहासन पर बैठा, वैसे ही बुद्ध-मूर्ति के पक्ष में राजकीय निर्णय लेने के अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ, जैसाकि कनिष्क के दूसरे और तीसरे सम्वत् की मूर्तियाँ सिद्ध करती हैं। मूर्ति के लिए जिस प्रकार का उत्साह मथुरा में लक्षित होता है, वैसा ही मथुरा से बाहर सारनाथ और कौशाम्बी में भी था। इस दिशा में बौद्धों का नेतृत्व त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल कर रहे थे। बुद्ध की निर्मित मूर्तियों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिए नवीन मूर्तियों को ''बोधिसत्त्व की मूर्ति'' यह नाम दिया जाने लगा, जैसा सारनाथ और कौशाम्बी की मूर्तियों पर अंकित है। मथुरा में कटरा-केशवदेव से जो मूर्ति प्राप्त हुई है, वह लक्षणों के अनुसार बुद्ध की है, परन्तु उसकी चौकी पर उन्हें बोधिसत्त्व ही कहा गया है। इन सब तथ्यों से यही तथ्य सामने आता है कि कनिष्क ने सिंहासन पर बैठने के वर्ष में ही बुद्ध की मानव-मूर्ति के निर्माण के पक्ष में अनुमति दे दी। कनिष्क ने ईरानी यूनानी और ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी अनेक देवताओं को अपने सिक्कों पर स्थान दिया।[२९] अत: वह बौद्ध धर्म की ओर से पराङ्मुख कैसे हो सकता था। उन्हीं देवों के परिवार में बुद्ध की मूर्ति भी सम्मिलित कर दी गई। इस प्रकार धर्म की जो प्राचीन परम्परा चल रही थी, उसमें कनिष्क के द्वारा बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया। बौद्धों के लिए जो स्थान अशोक का था, वही स्थान कनिष्क को भी मिला। अपने शासन-काल में कनिष्क ने ईरानी, यूनानी ब्राह्मण और बौद्ध चार धर्मों के देवताओं के लिए द्वार खोल दिया।

कालान्तर में परम्परागत प्रतीकों की परम्परा क्रमश: पीछे छूटती गई और दूसरी शती के अन्त तक केवल मूर्ति ही प्रधान हो गई। मथुरा के शिल्पी देवताओं और मानवों की मूर्तियाँ बनाने में सिद्धहस्त थे। बुद्ध-मूर्ति बनाने के मार्ग में उनके सामने जो कुछ बाधा थी वह कनिष्क के काल में समाप्त हो गई। तब उन्होंने अपना समस्त शिल्प-विज्ञान बुद्ध-मूर्ति के ऊपर उड़ेल दिया, जिसके फलस्वरूप एशिया में एक नई ज्योति का प्रकाश फैलने लगा। महापुरुष लक्षण से युक्त मूर्ति के रूप में मानो बुद्ध का पुन: अवतार हुआ। दिव्यावदान में तो यहाँ तक लिखा गया है कि स्वयं कामदेव ने मथुरा के आचार्य उपगुप्त की प्रार्थना पर उसे मानव-रूप बुद्ध का दर्शन कराया। इस प्रकार बुद्ध-मूर्ति की रचना में धर्म, समाज, राजनीति और कला- ये सब परिस्थितियाँ एक सूत्र में बँध जाती हैं और बुद्ध-मूर्ति के आरम्भ पर एक नया प्रकाश डालती हैं।

मथुरा कला की बुद्ध मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं- एक खड़ी बुद्ध प्रतिमा, दूसरी बैठी हुई बुद्ध की प्रतिमा। कला की दृष्टि से खड़ी मूतियाँ यक्ष-मूर्तियों एवं बैठी हुई मूर्तियाँ योगी, मुनियों की मुद्रा में बनाई गई, जिनकी पूर्व परम्परा कला में विद्यमान थी। ये दोनों प्रकार कला की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु प्रतिमा-लक्षण की दृष्टि से दोनों का प्रेरक सूत्र एक जैसा था, अर्थात् योगी और चक्रवर्ती इन दोनों आदर्शों को मिलाकर मूर्ति का निर्माण हुआ। महापुरुष के रूप में बुद्ध के शरीर पर ३२ लक्षण माने जाते थे।

इन लक्षणों से बुद्ध-मूर्ति के निर्माण में सहायता ली गई। मस्तक के ऊपर उष्णीष या प्रज्ञा का बुद्बुदाकार महादेव भूमध्य मे रोंयों का आवर्त, कानों की लम्बी पाली, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ (आजानबाहु) चौड़ी छाती (विशाल वक्ष), हथेली और तलवों पर चक्र का चिह्न, हाथ की ऊँगलियों के बीच में फैली हुई त्वचा, जैसी बत्तखों के पंजों में होती है[३०]- ये सब लक्षण योगी की आदर्श प्रतिमा से लिए गये हैं, जैसे- नासाग्र दृष्टि, जिसके कारण आँख अधमुँदी बनाई गई है, पद्मासन ध्यान मुद्रा में दोनों हाथ उत्सङ्ग में रखे हुए, जिनकी उपमा खिले कमल से दी गई, कभी दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ दिखाया गया है।[३१] चक्रवर्ती के आदर्श से भी कुछ लक्षण दिखलाए गये, जैसे- दो चामर ग्राही पार्श्वचर, जिनका सम्बन्ध केवल राजाओं से, था; छत्र भी राजाओं का चिह्न था जैसाकि कालिदास ने भी लिखा है (शशिप्रभं छत्रमुचे च चामरे)। भिक्षुबल के सारनाथ के बोधिसत्त्व और महोली के बड़े बोधिसत्त्व के साथ महाप्रमाण छत्र पाये गये हैं। शुंगकालीन कला में बौद्ध प्रतीकों के ऊपर भी छत्र लगाये जाने लगे थे। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल आरम्भ से ही बुद्ध-मूर्ति का लक्षण माना गया है। इस लक्षण को ईरान के धार्मिक देवताओं से अपनाया गया जहाँ सिक्कों पर देवों की मूर्तियों, में मस्तक के पीछे प्रभामण्डल पाया जाता है। भरहुत, साँची की कला में तेजो चक्र या छाया मण्डल का कोई प्रमाण नहीं है, अत: स्पष्ट है कि कुषाण-कला में ही सर्वप्रथम इसकी कल्पना की गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध-मूर्ति के शिल्पी उन व्यक्तित्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में थे, जो कनिष्क के सिक्कों पर इरानी देवों का अंकन कर रहे थे। ईरानी देवों की इस विशेषता का भारतीय देवों के आदर्श रूप से ठीक मेल बैठता है। धीरे-धीरे तेजो-चक्र को अधिकाधिक भारतीय रूप प्राप्त होता गया। सर्वप्रथम यह एक तेजोचक्र था जिसके किनारे पर बँगड़ी के निशान थे। इस प्रकार की चूड़ीदार "प्रभा" कुषाणकाल में प्राप्त होती है, लेकिन धीरे-धीरे लोग ईरानी स्वरूप से दूर हटते गये और गुप्त युग में पद्मपत्र छाया-मण्डल का विकास हुआ अर्थात् यह मान्यता हुई कि खिले हुए कमल की आकृति का प्रभामण्डल उस छत्र की छाया है, जिसे देवी लक्ष्मी राजा के सानिध्य में रहकर उसके मस्तक पर लगाती हैं। कालिदास ने भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख रघुवंश में किया है।[३२]

बुद्ध की मूर्तियाँ दो रूपों में पायी गई, जिनमें से सालंकार मूर्तियों को बोधिसत्त्व की और निरलंकृत मूर्तियों को बुद्ध की कहा गया। जब कलाकारों के सम्मुख बुद्ध-मूर्ति का प्रश्न आया तो उनके सामने कुछ देवमूर्तियों के नमूने थे, जिनमें सबसे प्रमुख परखम यक्ष जैसी महाप्रमाण और बलशाली मांसल मूर्तियाँ थी। परखम यक्ष को समस्त भारतीय मूतियों का परदादा कहा जा सकता है। खड़ी बुद्ध प्रतिमाएँ ठीक उसी परम्परा में हैं। कुमारस्वामी का मत है कि मथुरा की महाकाय बोधिसत्त्व की मूर्तियों का विकास परखम यक्ष जैसी महाप्रमाण यक्ष मूर्तियों से हुआ। कला की दृष्टि से भी परखम यक्ष और सारनाथ बोधिसत्त्व की शैली में बहुत सादृश्य है। खड़ी मूर्तियों के अलावा बैठी हुई मुद्रा की मूर्तियों के विषय में भी विचार आवश्यक है, जो कटरा तथा अन्योर से प्राप्त हुई है। कटरा बोधिसत्त्व की मूर्ति विश्लेषण से निम्नांकित प्रतिमा लक्षण प्राप्त होते हैं-

१. बोधि वृक्ष के नीचे सिंहासन पर बैठे हुए बुद्ध।

२. पद्मासन मुद्रा में बैठी मूर्ति, जो भारतीय धर्म और कला में पूर्वकाल से ही विदित थी।

३. दाहिना हाथ अभय मुद्रा में और बायाँ बाएँ पैर पर रखा हुआ है। इसमें अभय मुद्रा शुद्ध भारतीय कल्पना है।

४. हथेली और तलवों पर धर्म-चक्र और त्रिरत्न के चिह्न हैं, जिनसे उनकी महापुरूष में गिनती थी।

५. मस्तक के उपर उष्णीष या प्रज्ञा के महादेवा, जो केशों से ढँका होने के कारण ''कपर्द'' भी कहा जाता था। मथुरा को इन ''कपर्द'' की मूर्तियों के केशों में वैसा कुन्चितपन नहीं है जैसाकि गान्धार की मूर्तियों में है।

६. मस्तक के पीछे एक सादा तेज चक्र है जिस पर बँगड़ियों के कटाव की गोट है।

७. वस्त्रों में नीचे धोती, जो ऊपरी सिरे पर पटके से बँधी हुई है, जैसी यक्ष मूर्तियों में प्राप्त होती है। उर्ध्व काय संघाटी से आच्छादित है, जिसमें दाहिना कन्धा खुला है, अतः इसे एकांसिक कहते थे। बाएँ कन्धे और भुजा पर संघाटी की कुछ सिकुड़न दिखाई जाती है।

८. बुद्ध के दोनों ओर दो चामरग्राही खड़े हैं। उनका वेष गृहपतियों जैसा है।

९. ऊपर के दो कोनों में आकाशचारी देव हैं, जो बुद्ध के ऊपर दिव्य पुष्प वृष्टि करते हुए दिखाए गये हैं।[३३]

ऊपर के इन लक्षणों में से केवल प्रभामण्डल को छोड़कर प्रत्येक की परम्परा भारतीय धार्मिक परम्परा में पाई जाती है। उनमें से कुछ का सम्बन्ध योगियों और कुछ का चक्रवर्तियों से था। बुद्ध-मूर्ति की रचना के लिए दोनों धाराओं का संगम हुआ है।

शुङ्ग कालीन मूर्तियों में बोधिमण्ड या प्रतीक के ऊपर केवल छत्र दिखाया जाता था। बाद में प्रतीक के स्थान पर खड़े मनुष्य की मूर्ति बनाई गई। शेष चामरग्राही, पार्श्वचर और पुष्प वर्षक देव यथावत् रहे। भरहुत और भाजा की मूर्तियों में छत्र और चामर चक्रवर्ती के चिह्न माने गये हैं, जैसा- मान्धाता, अशोक या अजातशत्रु के चित्रों में है। बुद्ध की मूर्ति के रूप का निष्पादन करते हुए सिंहासन पर बैठे चक्रवर्ती और बोधिमण्ड पर ध्यान मुद्रा में बैठे योगी बुद्ध- इन दो सूत्रों को परस्पर मिलाया गया। बैठी हुई मूर्तियों में छत्र के स्थान पर तेज चक्र बनाया गया।

उपरोक्त अध्ययन के ज्ञात होता है कि अनेक भारतीय परम्पराओं की समष्टि और चुनाव से खड़ी और बैठी बोधिसत्त्व मूर्तियों का आदिम निर्माण मथुरा में हुआ। इनके अतिरिक्त भी कई अन्य प्रकार की बुद्ध मूर्तियाँ मथुरा में बनाई गई, जैसे-

(१) बोधिसत्त्व मैत्रेय, (२) अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व, (३) काश्यप बुद्ध आदि।

●●

संदर्भ-सूची

१. बौ.ध.वि.इ., पृ. २१६, द्र.-पाद-टिप्पणी ८१, पृ. २०४
२. तु. आइ.एच.क्यू., जि: १४, पृ. २९३-३०८
३. बौ.ध.वि.इ., पृ. २१६, पाद टिप्पणी-८९
४. बौ.ध.वि.इ.- गो.च.पा., पृ. २१८, द्र.-पाद टिप्पणी ९१
५. बौ.ध.वि.इ.-गो.च.पा., पृ. २१८, द्र. -पाद टिप्पणी-९२
६. वही, पृ. २१९, द्र. पाद टिप्पणी-९३
७. इलिएट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जिल्द-३, पृ. २४५
८. फाश्येन (अनु. जाइल्स), पृ. १३, श्वानच्वांग (अनु.वील), जिल्द-२, पृ. १५१-५४
९. द्र. फूशे, बिगनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट आर्ट, प्लेट नं. ११
१०. द्र. परिशिष्ट, पृ. २३२ चित्र सं. ९
११. फाश्येन (अनु जाइल्स), पृ. १०
१२. श्वान् च्वाँग (अनु. बील), जि. २, पृ. १७७
१३. बौ.ध.वि.इ., क्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृ. २२३
१४. वही, पृष्ठ २२३, तु. लेग फाश्येन, पृ. ४३, तु. जाइल्स, फाश्येन, पृ. २१
१५. देखिये- परिशिष्ट १०, पृ. २३३ चित्र संख्या ८
१६. द्र. परिशिष्ट ११, पृ. ९३४, चित्र संख्या ९
१७. द्र. परिशिष्ट ११, पृ. ३३४,चित्र संख्या १०
१८. द्र. परिशिष्ट १२, पृ.२३५, चित्र संख्या ११
१९. द्र. वही परिशिष्ट १३, पृ. २३६, चित्र सं. १२
२०. द्र. वही परिशिष्ट १४, पृ. २३७, चित्र सं. १३
२१. आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया, रोनाल्ड पृ.-४८
२२. विनय, ना. चुल्लवग्ग, पृ. २३९
२३. ए हिन्दी ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ. २०, ५९-६२ (स्मिथ)
२४. दिव्यावदान (सं. वैद्य) पृ. १८२
२५. अंगुत्तर निकाय (रो.) जिल्द-२, पृ. ३८-३९
२६. संयुक्त निकाय (रो.) जिल्द-३, पृ. १२०
२७. द्र. परिशिष्ट सं. ५, पृ. २२८, चित्र सं. १
२८. द्र. परिशिष्ट सं. ६, पृष्ठ २२९, चित्र सं. ३
२९. द्र. परिशिष्ट-७, पृ. २३०, चि. सं. ४-५
३०. चक्राइ-कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धांगुलि पाणिपादम्।
सोर्णुभ्रुवं वारणवास्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श॥

–बुद्धचरित १/६५

३१. द्र. परिशिष्ट-८, पृ. २३१, चि.सं. ६
३२. छायामण्डललक्ष्येण · तमदृश्या किलस्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे सामाज्यदीक्षितम्॥

–कालिदास, रघुवंश ४/५

३३. द्र. परिशिष्ट-८, पृ. २३१, चि.सं.-६

पंचम खण्ड

ललित-विस्तर का सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अध्ययन

सामाजिक अध्ययन

साहित्य समाज का दर्पण है। किसी काल के सामाजिक जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए तत्कालीन साहित्य अथवा तत्कालीन प्रसिद्ध कथानक को लेकर रचित साहित्य का परिशीलन सहायक सिद्ध होता है, क्योंकि इस प्रकार के साहित्य में तत्कालीन समाज प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् ऐसे साहित्य से उस समय और स्थान के लोगों की संस्कृति अर्थात् उनके खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, व्यापार आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

कुषाण नरेश महाराज्ञ कनिष्क (७८-१२० ई.) बौद्ध धर्म का अनुयायी था, जिसका संरक्षण प्राप्त करके बौद्ध धर्म देश-विदेश में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कनिष्क ने अनेक कार्य किए। चतुर्थ बौद्ध संगीति कनिष्क के शासन-काल में पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में हुई। महायान[१] बौद्ध धर्म को मान्यता प्रदान करने के लिए इस संगीति का आयोजन किया गया था। कनिष्क के शासन-काल से पहले ही लगभग समस्त वैपुल्य सूत्रों की रचना हो चुकी थी, जैसाकि अधिकांश विद्वानों की मान्यता है। ललित-विस्तर सूत्र की रचना भी इस समय तक हो चुकी थी।

ललित-विस्तर सूत्र तत्कालीन समाज का प्रतीक है। संसार में चारों तरफ विप्लव एवं अशान्ति का वातावरण फैला हुआ था। ऐसे समय में भगवान् बुद्ध का जन्म शान्ति और आनन्द देने वाला था। उनके स्वरूप क्रिया-कलाप, व्यवहार आदि का अवलोकन करके ही समाज के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट दोनों प्रकार के लोगों ने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। ऐसे समय में जबकि समाज में चारों तरफ अंधविश्वास, विषमता और अज्ञान का वातावरण फैला था, लोक-कल्याणार्थ भगवान् बुद्ध का पदार्पण हुआ। उन्होंने अपने धर्मोपदेश के द्वारा समाज को दिशा-निर्देश दिया। अनेक बोधिसत्त्वों ने पवित्र गंगा की धारा के समान समाज में भ्रमण करते हुए, समाज में फैले हुए नानाविध क्लेशों को दूर करने का अथक प्रयास किया।

जीवन-स्तर

तत्कालीन समाज में आर्थिक विषमता भी व्याप्त थी। समाज में रईस[२], सेठ[३] वर्ग

एवं निर्धन वर्गों का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। महामाया देवी के द्वारा देखे गये स्वप्न पर विचार करा लेने और तथ्य के मालूम हो जाने पर महाराज ने अनेक प्रकार से सन्यासियों एवं गरीबों को दान-दक्षिणा प्रदान की। धनिक वर्ग के लोग विशाल भवनों में रहा करते थे तथा उनका जीवन विलासमय था। इसके विपरीत निर्धन वर्ग के लोग साधारण मकानों में रहते थे। समाज में आर्थिक दृष्टि से तीसरा वर्ग, जिसे मध्यम वर्ग कहा जा सकता है, भी विद्यमान था।

वर्ण-व्यवस्था

ब्राह्मण धर्म की जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज चार वर्णों में विभक्त था, जिसके अन्तर्गत अनके जातियाँ थीं। इनमें ऊँच-नीच की भावना व्याप्त थी। चतुर्वर्ण-व्यवस्था के चार वर्ण हैं- (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, (४) शूद्र। ललित-विस्तर में भी इन चतुर्वर्णों का उल्लेख प्राप्त होता है।[४]

वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण समाज में सर्वोत्कृष्ट वर्गथा। यद्यपि ललित-विस्तर में उनके कर्मों का विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। गौतम बुद्ध ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया और इस व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत स्वीकार किया। ब्राह्मणत्व का आधार जन्मगत न होकर कर्मगत था। उसमें माया, मोह, राग द्वेष, पाप-वृत्ति, तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि का अभाव होना आवश्यक था। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण का विशेष कार्य अध्ययन एवं अध्यापन करना था। पुरोहितों का कार्य भी ब्राह्मण वर्ग के माध्यम से ही होता था।[५] यद्यपि बौद्ध धर्म में ब्राह्मण धर्म की बुराइयों पर प्रहार भी किया गया है तथापि ब्राह्मणों द्वारा बौद्ध धर्म को अपनाये जाने के अनके दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। अश्वघोष स्वयं वेदविद् ब्राह्मण था जिसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और जन्मगत वर्ण व्यवस्था का खण्डन किया।[६] दिव्यावदान में भी जातिप्रथा की निन्दा की गई है।[७]

श्रमण ब्राह्मण

ललित-विस्तर में श्रमण ब्राह्मण का भी प्रयोग अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।[८] श्रमण शब्द का प्रयोग परिव्राजक[९], सन्यासी या धर्मोपदेशक के लिए किया जाता था। सम्राट अशोक के शिलालेखों एवं अभिलेखों में भी श्रमण-ब्राह्मण का प्रयोग हुआ है। भगवान् बुद्ध का कथन था कि जिस प्रकार आग जलाने के लिए काष्ठ का भेद नहीं देखा जाता, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्ति के लिए भी मनुष्यों में कोई भेद नहीं है। भगवान् ने स्वयं को भी ब्राह्मण कहा है। यहाँ ब्राह्मण की व्याख्या जन्मगत न होकर कर्मगत है। ज्ञानी, सदाचारी, नि:स्पृह व्यक्ति को ब्राह्मण कहा जा सकता है। अत: इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उस समय समाज में वर्ण-व्यवस्था जन्मगत न होकर कर्मगत थी।

क्षत्रिय

तत्कालीन समाज में क्षत्रिय वर्ग को भी काफी सम्मान प्राप्त था। इन्हें राजन्य की

भी संज्ञा दी जाती थी। महाराज विम्बसार क्षत्रिय सम्राट थे। क्षत्रिय वर्ग का कर्तव्य युद्ध करना था। युद्ध करने वाले योद्धा का कुल भी क्षत्रिय कुल कहा जाता था। राजा राज-पुत्र तथा योद्धा प्रायः क्षत्रिय हुआ करते थे। लतिल विस्तर में भी क्षत्रिय के ही राजा होने का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।[१०]

शुद्र

ब्राह्मण धर्म में शूद्रों का कार्य केवल अन्य वर्णों की सेवा करना ही था। उन्हें अति निम्न समझा जाता था। वे शिक्षा विहीन, संस्कार विहीन तथा अधिकार विहीन थे, परन्तु बौद्ध धर्म में ऊँच-नीच, जाति-पाँति विहीन व्यवस्ता होने के फलस्वरूप सभी प्रकार के लोगों को इसने अपने अन्दर आत्मसात किया। मातंग, उपालि, सुनीति आदि शुद्रों ने बौद्ध धर्म में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसके अलावा चाण्डाल, वेणुकार, बढ़ई, पुक्कुस आदि शूद्र जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[११]

वैश्य

तत्कालीन समाज में विट, वणिक और श्रेष्ठी प्रायः वैश्य ही होते थे। इनका कार्य लेन-देन, वस्तु विनिमय, कृषि तथा वाणिज्य था। सेठ साहूकार को गृहपति कहा गया है।[१२]

आश्रम व्यवस्था

जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया था उसी प्रकार मानव के लिए चार अश्रमों का विधान-किया गया था। मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष मानकर उसके जीवन को चार भागों में बाँट दिया गया था अर्थात् प्रत्येक आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष मानी गई। इन चारों आश्रमों का नामकरण निम्न प्रकार था-

१. ब्रह्मचर्य
२. गृहस्थ
३. वानप्रस्थ
४. सन्यास

उपनयन संस्कार से ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था। उपनयन का अर्थ है- उप = समीप में, नयन = ले जाना। इसका तात्पर्य है, गुरू या आचार्य के समीप ले जाना। उपनयन संस्कार के समय से ही ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करता था। बौद्धायन धर्मसूत्र और वशिष्ठ धर्म सूत्रों में यज्ञोपवीत को परम पवित्र स्वीकार करते हुए सबको यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश है।[१३] दण्ड, कमण्डल और यज्ञोपवीत ही ब्रह्मचारी की सम्पत्ति थे। अपने जीविकोपार्जन के लिए ब्रह्मचारी को भिक्षाटन करना पड़ता था। यह कार्य उसे ब्रह्मचर्य के गुणों को विकसित करने के लिए करना पड़ता था। ब्रह्मचारी को भिक्षा न देने वाले पातकी समझे जाते थे।[१४] ब्रह्मचर्याश्रम अपनी उदर पूर्ति के लिए गृहस्थाश्रम पर ही पूर्णरूपेण

निर्भर था।

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे। प्रथम कोटि के ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। द्वितीय प्रकार के ब्रह्मचारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते थे, जो सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

ललित-विस्तर में भी ब्रह्मचर्य का उल्लेख प्राप्त होता है।[१५] ललित-विस्तर में मुख्यतः दो ही आश्रमों का उल्लेख प्राप्त होता है-

१. गृहस्थ[१६]
२. प्रव्रजित[१७]

प्रव्रजित भिक्षु या सन्यासी का एक ही आश्रम था। अतः बौद्ध समाज में मुख्यतः दो ही आश्रम थे- गृहस्थ और भिक्षु या सन्यास। इनके रहन-सहन खान-पान इत्यादि के विधिवत् नियम थे, लेकिन इस ग्रन्थ में उनका वर्णन नहीं प्राप्त होता। कहीं-कहीं यह उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है कि गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों ही भगवान की चर्या करते थे। धर्म श्रवण और धर्माचरण ही गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य था। भिक्षु संघ के नियमों का पालन करते हुए बौद्ध भिक्षु को धर्मोपदेश के लिए भ्रमण करना था।

परिवार

परिवार को समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवार का विशेष महत्त्व रहा है। परिवार संयुक्त ही होते थे, जिसमें माता-पिता पुत्र भाई-बहन इत्यादि मिलकर रहते थे। कई परिवारों को मिलाकर कुटुम्ब और कई कुटुम्बों को मिलाकर कुल[१८] का निर्माण होता था। कुलों से ग्राम, ग्रामों को मिलाकर विश और विशों से राष्ट्र का निर्माण होता था। सामाजिक व्यवस्था त्याग और सेवा पर आधारित थी। बौद्ध धर्म के प्रभाव से इस व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, लेकिन कुछ अव्यवस्था अंशतः उत्पन्न हुई। लोग अपने पूर्ण उत्तरदायित्व को पूर्ण किए बिना ही अपना घर-द्वार छोड़कर भिक्षु बन गये। परन्तु कुछ समय पश्चात् इस पर राजकीय प्रतिबन्ध लग गया और माता-पिता की सेवा पर विशेष बल दिया जाने लगा।

माता-पिता ही परिवार के मूलाधार थे। तत्कालीन समाज में माता-पिता की हत्या करना महापाप था।[१९] इस ग्रन्थ में कहा गया है- "अस्माकं हि भगवान पिता जनको नयनं त्राणं च।[२०] इसका तात्पर्य है कि पिता ही जन्म देने वाला जनक पथ-प्रदर्शक (नयन) तथा रक्षक (त्राण) है। समाज में पुत्री के प्रति अनादर का भाव तो नहीं था, परन्तु पुत्र का स्थान पुत्री से ऊँचा प्रतीत होता है। पारिवारिक अभिवृद्धि तथा संचित धन के उपयोग के लिए उपभोक्ता के रूप में पुत्र की ही कामना की जाती थी। इस महायानी ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के द्वारा की गई ललित क्रीड़ाओं का विस्तार के साथ वर्णन करना प्रधान प्रयोजन है। इसमें विवाहादि संस्कारों का उल्लेख अधिक प्राप्त नहीं होता, केवल बुद्ध के

विवाह का ही प्रसंग प्राप्त होता है। तत्कालीन समाज में कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह योग्य वर के ही साथ करता था, जिसमें सामान्य सभी गुणों की अपेक्षा की जाती थी।[२१] स्वयंवर के माध्यम से विवाह सम्पन्न होने के तथ्य प्राप्त होते हैं, जिसमें वर अपने शिल्पों का प्रदर्शन करता था, जो सर्वोत्तम सिद्ध होता था उसी को कन्या अपने पति के रूप में वरण करती थी। यह वरण पिता की स्वीकृति के पश्चात् होता था। इसके पश्चात् विवाह विधि से कन्या का वरण किया जाता था।

स्त्रियों की दशा

किसी भी काल में समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति में स्त्रियों का विशेष योगदान होता है, क्योंकि विवेकशीलता, साधुता, सेवा और त्याग ही स्त्रियों के प्रधान गुण हैं। स्त्री-जीवन के विविध चरणों में पाए जाने वाले इन गुणों के द्वारा ही समाज में सद्धर्म प्रचलित होता है। वह जन्म के बाद कन्या, दुहिता, दारिका, पुत्री आदि नामों से तथा विवाह के पश्चात् भार्या, पत्नी तथा जननी या माता कहलाती थी।

भगवान् बुद्ध ने प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ-प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की थी। बाद में अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष आग्रह पर यह छूट प्रदान की। भगवान् बुद्ध द्वारा संघ-प्रवेश के लिए स्त्रियों को छूट मिल जाने पर ही माता-प्रजापति गौतमी, यशोधरा आदि छः हजार भिक्षुणियाँ संघ में सम्मिलित हो सकी थीं। यह छूट होते हुए भी स्त्रियों के संघ में प्रवेश पर काफ़ी सतर्कता रखी जाती थी, क्योंकि स्त्रियों की संघ में उपस्थिति से चारित्रिक पतन का भय सदैव विद्यमान रहता था। पालि साहित्य में थेरी गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भिक्षुणियाँ भी विदुषी हुआ करती थीं और वे बुद्धत्व को प्राप्त कर सकती थीं।

गणिका

नगर-जीवन क़ी विलासिता के परिणामस्वरूप समाज में गणिकाओं का अस्तित्व रहा है। बुद्ध के समय में ही वैशाली में आम्रपाली नाम की गणिका थी। तत्कालीन समाज में राजदरबार में गणिका को विशेष आदर दिया जाता था। गणिकाओं का सम्बन्ध गणराजाओं से होता था, अतः समाज में इनको सम्मान प्राप्त था। गणिकाएँ केवल वासना-पूर्ति का साधन मात्र ही नहीं थी, अपितु वे सभी कलाओं में निपुण तथा संगीत, वाद्य एवं नृत्य कला में विशेष दक्ष होती थी।

खान-पान

मानव-जीवन के लिए अन्न और जल की अत्यन्त आवश्यकता होती है। अतः जीवन को कायम रखने के लिए कृषि का कार्य होता था, जिसमें नाना प्रकार की फसलों का उत्पादन होता था। कृषि-कार्य के लिए कृषि ग्राम[२२] नगर से अलग होता था।

वस्त्र

तत्कालीन समाज में विविध प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग होता था। वस्त्रों के विषय में ललित-विस्तर के विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हाँ सर पर पगड़ी बाँधने की प्रथा प्रचलित थी।[२३]

आभरण[२४]

समाज में विविध प्रकार के आभूषणों का प्रचलन था। स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही आभूषणों से सुसज्जित किया जाता था। ललित-विस्तर ग्रन्थ में निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख प्राप्त होता है- हाथ के आभरण, पैरों के आभरण, सिर के आभरण, कंठ के आभरण, मुद्रिकाओं के आभरण, कर्णाभरण, बाजूबन्ध, सुवर्ण की मेखला, कमरबन्द, सुवर्ण के सूत्र, घुँघुरूओं के जाल, रत्नजाल, जड़ाऊँ-पादुकाएँ, नाना प्रकार के अलंकृत हार (मुक्ता मालाएं), हाथों में पहनने के शंख आदि के वलय, कंठ में पहनने के कंठ श्री नामक आभूषण तथा मुकुट आदि अलंकारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

बाल जीवन में खेल-खिलौनों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बालक नाना प्रकार के आकर्षक रमणीय एवं रंग-विरंगे खिलौने से क्रीड़ा करते थे। बुद्ध के जन्म हो जाने पर नगर वासियों के द्वारा नाना प्रकार की वस्तुएँ बालक बुद्ध के लिए प्रदान की गई, जिन्हें राजा शुद्धोधन ने कुमार की क्रीड़ा के लिए प्रदान की।[२५]

संगीत

तत्कालीन समाज में मनोरंजन के साधनों में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका थी। संगीत का विशेष महत्व उत्सव आदि तथा पूजनोत्सव के अवसर पर होता था। माता माया देवी के उदर में अवतरण से जन्म पर्यन्त सभी देव गण, किन्नर गण, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर आदि देवता एव देवियाँ तथागत की प्रार्थना पूजा आदि किया करते थे।[२६] वाद्य यन्त्रों का भी वृहद् रूप में प्रयोग होता था। वाद्य यन्त्रों में पुण्य भेरी घंटे, झाँझ, मृदंग आदि का विवरण प्राप्त होता है।[२७] आज भी विश्व के लगभग सभी देशों में संगीत मनोरंजन एवं पूजा, उपासना का अभिन्न अंग बनी हुई है।

व्याधि एवं औषधियाँ

ललित-विस्तर में अनेक स्थानों पर व्याधियों एवं औषधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्थ में वर्णित व्याधियों को मूलत: चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सन्निपातिक व्याधियाँ।[२८] इसके अतिरिक्त आँख, नाक, कान, गला, काय तथा चित्त से सम्बन्धित व्याधियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[२९] इन व्याधियों से छुटकारा पाने के लिए औषधियों में जड़ी-बूटियों का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु उनका नामकरण नहीं किया गया है।[३०] पालिग्रन्थों में भी भगवान् बुद्ध के अस्वस्थ होने और

उनके द्वारा औषधि ग्रहण करने का उल्लेख पाया जाता है।

भूत-प्रेत सम्बन्धी मान्यता

तत्कालीन समाज में भूत-प्रेतों के अस्तित्व होने की मान्यता थी। जिस समय तथागत माता की कुक्षि में विराजमान हुए उस समय जो स्त्रियाँ और बच्चे अत्यन्त दुःखी थे, जिनके ऊपर भूत-प्रेत का प्रकोप था, जिनका चित्त ठीक नहीं था, जो नंगे रहते थे, जो धूल लपेटे रहते थे, वे सब माया देवी को देखकर होश में आ जाते थे, वे स्मृति, मति तथा गति पाकर अपने-अपने घर चले जाते थे।[३१]

ललित-विस्तर का राजनैतिक अध्ययन

ललित-विस्तर एक धर्म-ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसका उद्देश्य महायान धर्म की विवेचना करना है। यद्यपि यह नीति शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है फिर भी इसके महानायक शाक्याधिराज का सम्बन्ध राज्यों, राजाओं एवं राजकुमारों से था, जिसके परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ में राजनीति सम्बन्धी विचारों का सर्वथा अभाव नहीं है।

प्राचीन भारत में राजनीति अथवा नीतिशास्त्र के लिए कई शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता था। ललित-विस्तर में नीति शास्त्र[३२] शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। कामन्दकीय नीतिसार में नय का उल्लेख प्राप्त होता है (यानप परिवर्त्य)[३३] राजा को नायक, नरेन्द्र, नरपाल, पृथ्वी पालक, कहा गया है। बुद्ध को देवातिदेव[३४], शाक्य सिंह[३५], महानायक, वैद्यराज[३६] कहा गया है। कामन्दकीय नीति शास्त्र में कहा गया है कि राजा को नय और अपनय अर्थात् नीति और अनीति का ज्ञाता होना चाहिए (नयापनयविद्राजा)[३७]राजा को विनीत तथा नययुक्त होना चाहिए (राजा विनयी नयान्वितो)।[३८]

प्राचीन काल में चार मुख्य विद्याएँ- अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति थीं।[३९] राजा को दण्डधर एवं उसकी नीति को दण्डनीति कहा गया है। दण्डनीति के अन्तर्गत नय और अपनय पर विचार किया गया है (दण्डनीति अपनपनयी)।[४०] सम्यक् रीति से सुमार्ग पर चलाने वाली विद्या को ही नय कहा गया है।

महाभारत में ऐसा उल्लेख है कि एक समय ऐसा था जब न तो राज्य थे और न राजा सब लोग धर्म के अनुसार कार्य करते थे-

"नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति च परस्परम्॥"[४१]

इसी को धर्म नय कह सकते हैं। ललित-विस्तर में भी इसी भाव को इस रूप में व्यक्त किया गया है-

"अध्येषकोऽहं तव धर्मराज अध्याचरा कृत्वन सर्वदेवान्।
अनेन पुष्पेन अहंऽपिक्षिप्रं प्रवर्तपेयं वर धर्मचक्रम्।।"[४२]

हे धर्मराज! तुम्हारा प्रार्थी हूँ। सभी देवताओं की उत्तम चर्या करके इस प्रार्थना के पुण्य से मैं भी शीघ्र उत्तम धर्म का प्रवर्तन कर सकूँ।

इन्हीं भावों को अनेक गाथाओं में वर्णित किया गया है।[४३]

राज्यतन्त्र

प्राचीन काल में भारतीय राज्य तन्त्र वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित था। वेदोत्तर काल में आर्यावर्त में कई राज्य थे, जिनमें राजतन्त्र प्रचलित था, लेकिन कुछ गणराज्य थे, जो बुद्ध काल में भी विद्यामन थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अनेक विजेता जातियाँ (यवन, शक, कुषाण आदि) भारत आयीं और अपने-अपने राज्य स्थापित किए। अवदान शतक से भी गणराज्य तथा राजतन्त्र होने के संकेत प्राप्त होते हैं।[४४] ललित-विस्तर में राजतन्त्र का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। सोलह महाजनपदों में राज्य तन्त्र ही था।[४५]

महासम्मत

राजतन्त्र के उदय से सम्बन्धित "महासम्मत" विचार-धारा प्रसिद्ध है, जिससे प्रजातन्त्रात्मक शासन के अस्तित्व का बोध होता है। महावस्तु से ज्ञात होता है कि एक समय जब लोग दूसरे के खेतों से अन्न आदि की चोरी करने लगे तो उन्होंने आपस में मिलकर एक सभा की तथा उसमें से ही एक व्यक्ति को अपना प्रधान चुन लिया। उस सर्वसम्मति से चुने गये प्रधान को "महासम्मत" कहा गया।[४६] इस महासम्मत को "मूर्धाभिषिक्त" की उपाधि दी गई।[४७] वह माता-पिता के समान प्रजा वत्सल और प्रजा सम्मत राजा था तथा उसकी शक्ति का श्रोत जनपदतीर्थ या राष्ट्रशक्ति थी।[४८]

राजा का महत्त्व

यद्यपि भगवान् एक गणराज्य में ही उत्पन्न हुए थे, तथापि उन्होंने शक्तिशाली राजतन्त्र की प्रशंसा करते हुए कहा है-

"यस्मिन् भिक्खवे समये चोरा वलवन्ते होन्ति
राजा नौ तस्मिं ..... समये दुब्बला होन्ति।"

यस्मिन् भिक्खवे, समये राजानो बलवन्तो होन्ति, तस्मिं भिक्खवे समय चोरो दुब्बला होन्ति।[४९]

इससे स्पष्ट है कि बुद्ध ने सुदृढ़ राज्य व्यस्था के लिए सशक्त और सुयोग्य राजा के महत्व पर विशेष बल दिया है। भगवान् बुद्ध ने चक्रवर्ती धर्मराज को ही श्रेयष्कर बतलाया

है। चक्रवर्ती राजा धर्म को ही आश्रय मानकर उसके प्रति श्रद्धा रखता है।[५०] गरूण पुराण में ''अबलस्य बलं राज़ा''[५१] कहा गया है। गणतन्त्रात्मक राज्य में उत्पन्न होकर भी बुद्ध ने सुदृढ़ राजतन्त्र का अनुमोदन किया। प्राचीन काल में राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था ही चक्रवर्ती क्षेत्र को सुरक्षित रख सकने में समर्थ थी। राजतन्त्र में राजा ही सर्वश्रेष्ठ होता था। उसके अभाव में अराजकता फैल जाती है और प्रजा संकट में पड़ जाती है। अराजक राज्य में धर्म की भी हानि होंती है।[५२] सशक्त राजा के रहने पर प्रजा सुखी रहती है और उसके अभाव में प्रजा का नाश हो जाता है।[५३]

ललित-विस्तर की निम्न गाथाएँ इस आशय को स्पष्ट करती हैं-

''उत्तिष्ठ विंजित संग्राम प्रज़ाकारा तिमिम्रे विवर लोके।
देशय त्वं मुने धर्म आज्ञातारो भविष्यन्ति।''[५४]

हे संग्राम विजेता, हे प्रभाकर अंधेरे लोक का परदा उखाड़ दो। हे मुनि तुम धर्म की देशना करो (तुम्हारे धर्म को) जानने वाले होंगे।

''न ते सदृश मुने इहास्ति लोके, कुतोऽधिक स्यादिह ते महर्षे।
भवानिहाग्रस्त्रिमवे विरोचते, गिरिर्यथासावसुरालयस्थः॥''
महाकृपां जानय दुःखिते जने, न त्वादृशा जातु भवन्त्युपेक्षकाः।
भवान विशारद्यवलैः समन्वितः त्वमेव शक्तो जनतां प्रतारितम्॥[५५]''

इसी प्रकार के भावों का उल्लेख ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है।[५६]

इस प्रकार धर्मराज राजा चक्रवर्ती तथागत का उदय ही समाज और राष्ट्र सुख और हित के लिए हुआ था। धर्मचक्र प्रवर्तन[५७] के पीछे धर्मराज्य का यही बौद्ध आदर्श जुड़ा हुआ है।

राजा का चरित्र

राजपद की प्राप्ति पुण्य कर्मों का ही फल है, ऐसी मान्यता है। यही कारण है कि नीति शास्त्र के ग्रन्थों में राजा के चरित्र पर विशेष बल दिया गया है। राष्ट्र तथा प्रजा का भाग्य राजा के चरित तथा राजोचित गुणों (शील, इन्द्रिय-विजय, विनय, धार्मिकता, शास्त्र ज्ञान आदि) पर निर्भर करता है।[५८]

ललित-विस्तर सूत्र में अनेक राजाओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, उससे तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। ललित-विस्तर बुद्ध की जीवनी का एक गौरवशाली ग्रन्थ होते हुए भी धार्मिक तथ्यों से परिपूर्ण है। ललित-विस्तर के कुल शुद्धि परिवर्त में राजा के गुणों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार है- कुलीन, महान, अनुपघाती, प्रभुत्व सम्पन्न, बलशाली शीलवान, प्रज्ञावान, दयाशील, दानी, अवद्यभीरू, पराक्रमी, धार्मिक, ऐश्वर्य तथा कीर्ति सम्पन्न, विनीत, मर्यादायुक्त, तेजस्वी,

न्यायप्रिय, दूरदर्शी आदि राजोचित गुणों से युक्त होना चाहिए।[५९] राजोचित गुणों के साथ-साथ राजा की शिक्षा-दीक्षा और सत्संग का भी उल्लेख नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। षड्वर्ग (व्यसनों) की विजय राजा के लिए मुख्य विजय कही गई है। जितेन्द्रिय राजा ही धर्मपरायण होता है। कामादि ऐसे व्यसन हैं, जिनके संसर्ग में आने पर राजा और राज्य नष्ट हो जाते हैं।[६०]

राज्यावयव

राज्य एक नियामक, शासकीय एवं संरक्षणीय संस्था है। इसके सात अवयव या अंग होते थे, जिन्हें सप्तांग-राज्य कहते थे। ये सात अंग निम्नलिखित हैं-

१. राजा
२. मंत्री (अमात्य)
३. जनपद (राष्ट्र)
४. पुर (दुर्ग)
५. बल (दण्ड)
६. कोष एवं
७. मित्र।

राज्य के इन सप्तांगों का उल्लेख अनेक राजनैतिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[६१]

ललित-विस्तर में राज्य का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु सप्तांग राज्य का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी इसमें अलग-अलग सप्तांगों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन अंगों के अतिरिक्त राजकुमार भार्या या पटरानी का उल्लेख भी मिलता है।[६२]

१. राजा

सप्तांग राज्य में राजा को स्वामी भी कहा गया है। राज्य का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग राजा ही होता था। राजा को राज्य का मूल माना गया था (सप्तांगस्यपि राज्यस्य मूलं स्वामी प्रकीर्तितः) और राज्य का मूल होने के कारण प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा करना भी उसका परम कर्तव्य था (स तु रक्ष्यः प्रयत्नतः)।[६३] ललित विस्तर में भगवान् बुद्ध को धर्मराज या धर्मस्वामी कहा गया है।[६४] सभी राजाओं के राजा को अधिराज या अधिपति कहा जाता था। राजा शुद्धोधन को शाक्याधिपति कहा गया है।[६५] ललित-विस्तर में चार प्रकार के राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

१. चक्रवर्ती
२. मूर्धाभिषिक्त
३. क्षत्रिय राजा
४. माण्डलिक

१. चक्रवर्ती राजा एवं षोडष जनपद[६६]

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक का क्षेत्र चक्रवर्ती क्षेत्र है। इस क्षेत्र को जीतने वाला सम्राट् चक्रवर्ती सम्राट् कहा जाता था।[६७] चतुरंगिणी सेना से युक्त, विजयी, धार्मिक, धर्मराज, सात रत्नों से युक्त राजा चक्रवर्ती राजा होता है।[६८] चक्रवर्ती राजा के सात रत्न ये होते हैं-

१. चक्ररत्न, २. हस्तिरत्न, ३. अश्वरत्न, ४. स्त्रीरत्न, ५. मणिरत्न, ६. गृहपतिरत्न, ७. परिणायकरत्न।[६९]

इसके अतिरिक्त शेष तीन राजा चक्रवर्ती राजा के अधीन हुआ करते थे।

ललित-विस्तर में षोडश महाजनपदों का उल्लेख प्राप्त होता है।[७०] इन सोलह महाजनपदों का नाम इस प्रकार है- अङ्ग, मगध, वज्जि, मल्ल, काशी, कोशल, चेदि, वत्स, मत्स्य, शूरसेन, कुरू, पान्चाल, शिवि, दशार्ण, अमश्क, अवन्ती, गान्धार एवं कम्बोज। इनमें से ललित-विस्तर में मगध, कोशल, वत्स, विदेह का ही स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मगध जनपद को ऋदु (धान्यसम्पन्न) स्फीत (धनसम्पन्न) क्षेम (स्थिर सम्पत्ति से युक्त) तथा सुभिक्ष (सुखी तथा दानी) बतलाया गया है। कौशल कुल को महावाहन, महापरिवार, तथा धनधान्य से युक्त कहा गया है। वत्स को भी मगध के समान द्योतित किया गया है। इसी प्रकार वैशाली, मथुरा, हस्तिनापुर, मिथिला आदि की भी सम्पन्नता एवं विपन्नता का उल्लेख प्राप्त होता है।

राजा के कर्त्तव्य

प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा, ''राजा रन्जनात्'' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए, प्रजा का अनुरंजन ही राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य है, इसकी शिक्षा दी गई है। प्रजा का हित-चिन्तन तथा अपने राज्य में शासन-व्यवस्था का समुचित संचालन राजा के लिए परमापेक्षित था। उसका द्वितीय कर्त्तव्य था प्रतिवेशी राज्यों और साथ ही दूरवर्ती राष्ट्रों एवं देशों की गति-विधियों का अवलोकन करना तथा उसकी क्रियाओं के प्रति सावधान रहना। राजा को इस बात के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए कि अवसर आने पर किसी भी समय वह शत्रु-पक्ष तथा उसकी विरोधी क्रियाओं का सामना सफलतापूर्वक कर ले और यहाँ तक कि युद्ध-स्थल में उतरने का प्रसंग आने पर अपने आक्रामकों का यथोचित जवाब देने के लिए तत्पर रहे। राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में धर्म की रक्षा करना भी एक था, क्योंकि राजा के विषय में कहा गया है- ''धर्मार्थ राज्यं कारितवान्''।[७१] ललित-विस्तर में राजा के धार्मिक कर्तव्यों के विषय में ऐसा कहा गया है कि सभी राजा धर्म से अपना-अपना राज्य चलाएँ अधर्म से नहीं, प्राणि-वध न होने दें। चोरी का कार्य न होने पाए न स्वयं चौर्य-कार्य करें। काममिथ्याचार न करे, झूठ न बोले। दूसरों के कान न भरें। कटु न बोलें। निरर्थक बातें न करें। लोभ में न पड़ें। किसी से द्रोह न करें। मिथ्यादृष्टि में न पड़ें, प्राणि-घातकों

से स्नेह न करें, ताकि राष्ट्र में अधर्म उत्पन्न न हो। अधर्म का आचरण करने वालो से प्रेम न करें।[७२]

उत्तराधिकार के नियम

राजतन्त्र में उत्तराधिकार की समस्या भी एक बहुत बड़ी समस्या थी। प्रचलित परम्परा के अनुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। ललित-विस्तर में यद्यपि राज्य के उत्तराधिकारी के विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता तथापि राजा शुद्धोधन ने सिद्धार्थ को ही अपना उत्तराधिकारी बनाने का असफल प्रयत्न किया, जिसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। बुद्ध के द्वारा तुषित लोक में मैत्रेय बोधिसत्त्व का अभिषेक किया गया था।[७३]

राजपुत्र

प्राचीनकालीन भारतीय समाज में राजपुत्रों को शस्त्र और शास्त्र की समुचित शिक्षा प्रदान की जाती थी। भविष्य में उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सामान्य रूप से चार प्रसिद्ध राजविद्याओं- आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड नीति की शिक्षा राजकुमारों को आवश्यक रूप से दी जाती थी।[७४] राजा मिलिन्द (मिनाण्डर) को धर्म, विधि, शिल्पशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, न्याय, योग, सांख्य, युद्ध शास्त्र, इतिहास, काव्य, आदि की शिक्षा प्रदान की गई थी।[७५]

भगवान् बुद्ध ने भी कुमारावस्था में सभी विधाएँ सीखी थीं। यद्यपि बौद्ध कवि कुमार को पहले से ही सभी विद्याओं में पारंगत बतलाया है, परन्तु लोक-व्यवहार के अनुसार तथागत को विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के लिए ले जाया गया। बुद्ध की शिक्षाओं के विषय में ललित-विस्तर का ''लिपिशालासंदर्शन परिवर्त'' विशेष महत्वपूर्ण है, जिसमें कुमार को शिक्षा-ग्रहण करने के लिए भेजा गया था।[७६] शिक्षा तथा सत्संग के द्वारा ही राजकुमारों में दिव्य गुणों का विकास होता था।

राजभार्या

राजतन्त्र में राजभार्या (महिषी, पटरानी)[७७] का भी महत्वपूर्ण स्थान था। राजा शुद्धोदन की मायादेवी नामक पटरानी या राजभार्या थीं, जिनसे भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ और बुद्ध जन्म के पश्चात् सातवें दिन ही उनका स्वर्गवास हो गया।

२. अमात्य[७८]

सप्तांग-राज्य में राजा के बाद अमात्य ही प्रमुख होता है। बिना अमात्य के कोई भी राज्य नहीं चल सकता। शूरवीर और बुद्धिमान ही अमात्य बनने योग्य होते हैं। ललित-विस्तर में अमात्यों की विशेष भूमिका दृष्टिगत नहीं होती, कहीं-कहीं अमात्यों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है। अमात्यों को मन्त्री भी कहा जाता था।[७९]

३. राष्ट्र

सप्तांग राज्य के अंगो में जनपद, राष्ट्र या देश अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। ललित-विस्तर में जनपद[८०] प्रदेश[८१] तथा राष्ट्र का भी उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन उनके विषय में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता।

४. राजधानी

प्राचीन काल में सप्तांग राज्य के अंगों में राजधानी[८२] को दुर्ग भी कहा गया है। सभी आवश्यक वस्तुओं जैसे- धन, धान्य, हिरण्य, शस्त्र, अस्त्र आदि का संग्रह दुर्ग या पुर में ही किया जाता था। अतः इसकी सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक थी। यहीं राजा का निवास भी होता था। इसकी गणना महानगर में की जाती थी।

५. सेना

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सेना को बल भी कहा गया है।[८३] यह सप्तांग राज्य का एक अंग माना गया है। इसी सैन्य बल के होने से राजा दिग्विजय अथवा शत्रु-विजय प्राप्त करता था। सेना में विविध प्रकार के सैनिक होते थे। सेना चतुरंगिणी होती थी, जिसमें रथ, हाथी, अश्व तथा पैदल या पदाति ही सेना के चार अंग थे। ललित-विस्तर में इस चतुरंगिणी सेना का वर्णन है।[८४]

६. कोष

राजस्व का मूलाधार कोष होता है, क्योंकि कोष की सहायता से ही संकटों पर विजय प्राप्त की जाती है (कोषमूलो हि भूपतिः) (कोषात् तद् व्यसनाद्धन्ति)। कोष में धन, धान्य हिरण्य, सुवर्ण, मणि-मुक्ता आदि सुरक्षित रखा जाता था। ललित-विस्तर के कुल शुद्धि परिवर्त में कोष के विषय में प्रचुर धन रखे जाने के स्थान को कोष तथा अन्न रखने के स्थान को कोष्ठागार या कोठार कहा गया है।[८५] व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों का विकास समृद्ध कोष के ऊपर निर्भर करता है। अतः राजाओं को कोष की सदैव रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए तथा कोष्ठागार सदैव धान्य से परिपूर्ण होना चाहिए।[८६]

७. मित्र

राज्य का सातवाँ अंग मित्र (सुहृद) को बतलाया गया है। राजा को योग्य एवं विश्वस्त मित्र रखने चाहिए। मित्र संग्रह ही त्रिवर्ग उन्नति के साधन है। सत्पुरूषों की मित्रता सदैव कल्याणकारी हुआ करती है। कामन्दकीय नीतिसार में चार प्रकार के मित्र बतलाये गये हैं-

१. औरसं (सहोदर)
२. कृत संबन्धं (सम्बन्धी)

३. संशक्रमागतम् (वंश परम्परा से प्राप्त) तथा
४. संकट में जिनकी रक्षा की हो, वह मित्र।[८७]

इन सप्तांगों द्वारा राजा अपने राष्ट्र का भली-भाँति रक्षा एवं प्रजा पालन करता है। सुखी और समृद्ध प्रजा को धर्म श्रवण कराता हुआ निर्वाण की ओर अग्रसर करता है। ऐसे ही राजा को धर्मराज तथा उसके राज्य को धर्मराज्य कहते हैं।

ललित-विस्तर के सर्वेक्षण से यही सिद्ध होता है कि इस धर्म-ग्रन्थ में जिस युग का चित्रण प्राप्त होता है उस युग में राज्य-व्यवस्था राजतन्त्र-प्रधान थी। सामन्त-प्रथा प्रचलित थी। धर्म एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव कई अन्य देशों में भी हो चुका था। उन विविध (बौद्धधर्मप्रधान) देशों से भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे।



5- स्थानक बोधिसत्व, सारनाथ

सन्दर्भ-सूची

१. ल.वि. १/११
२. ल.वि. - देवकुलोपनयन परिवर्त प्रारम्भिक गद्य भाग, पृ. २३५
३. वही
४. ललित-विस्तर, १२/३५१-३५२
५. ललित-विस्तर (शास्त्री), १२हवाँ शिल्प संदर्शन परिवर्त में पुरोहित द्वारा वरान्वेषण का गद्य भाग पृ. २७९
६. देखिए - वज्र सूची
७. दिव्यवदान शार्दूल्य कर्णावदान
८. ल.वि. (शास्त्री), १/गद्यभाग, पृ. ७
९. वही, (शास्त्री), १/गद्य भाग, पृ. ६
१०. ल.वि. (शास्त्री), कुल.शुद्धि परिवर्त, पृ. ४९-७५
११. ल.वि., कु.शु.प. का गद्यभाग
१२. ल.वि. देव कुलोपनयन परिवर्त, प्रारम्भिक, गद्यभाग, पृ.१
१३. बौद्धायन गृह्यसूत्र, २५/७-८
१४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पृ. २२, ३०
१५. ललित-विस्तर (शास्त्री), २६/आजीवक उप्रंग एवं तथागत का संवाद, पृ. ७६९, पंचभद्रवर्गीयों का तथागत के साथ आचार-व्यवहार, धर्मचक्र प्रवर्तन, पृ. ७७१
१६. ललित-विस्तर, ज़न्म परिवर्त असित की भविष्यवाणी
१७. वही- ७/असित की भविष्यवाणी
१८. ललित-विस्तर- कुल शुद्धि परिवर्त।
१९. "या गतिमातृ धातीनां पितृथातीन या गति।
तां गति प्रतिगच्छेद यो धर्मभाणकमतिक्रमेत॥"

– सदधर्मपुण्डरीक २१/२०

२०. सद्धर्म. पृ. २०
२१. ल.वि. (शास्त्री), शिल्प संदर्शन परिवर्त, शाक्य दण्ड पाणि का सिद्धार्थ के विषय में उक्ति गद्य भाग, पृ. २८२
२२. ल.वि. - कृषि ग्राम परिवर्त, पृ. २५९-२७०
२३. ल. वि. - प्रचल परिवर्त, प्रारम्भिक गद्य का भाग, पृ. १०३
२४. ललित-विस्तर - आभरण परिबर्त प्रारम्भिक गद्य भाग, पृ. २४३
२५. ललित-विस्तर (शास्त्री) - जन्म परिवर्त, गद्य भाग, पृ. १९५-९६
२६. ललित-विस्तर (शास्त्री) - गर्भावक्रान्ति परिवर्त, ६/१८२
२७. वही - देवकुलोपनयन परिवर्त, प्रारम्भिक गद्य भाग, पृ. २२३-३६
२८. ल.वि. ६/१८५
२९. वही, ६/१८५
३०. वही, ६/१८६

३१. वही, ६/१८४
३२. ल.वि. - शिल्प संदर्शन परिवर्त, पृ. २७५-३००
३३. का.नी.शा. - १/६५, ११/७६
३४. ल.वि. १/३
३५. वही, १/१,२
३६. वही, १/५
३७. का.नी.शा. १/३८
३८. वही, १/६६
३९. वही, २/१
४०. वही, २/७
४१. महाभारत शान्ति पर्व, ५९/१४
४२. ललित-विस्तर अध्येषणा परिवर्त, गा. १३९९
४३. वही, २५/१३९४, ९५, ९६, ९७, ९८
४४. अवदानशतक, २/१०३/८
४५. ललित विस्तर, ३/गद्य भाग, पृ. ६१-६६
४६. महावस्तु, १/३४७/१६-१९
४७. वही, १/३४८/५-६ तथा ललित विस्तर ३/गद्य भाग, पृ. ५०-५१
४८. वही, १/३८४/६-७
४९. अंगुत्तर निकाय, भा. १, पृ. ६५
५०. वही, १/१००-१०१
५१. गरुण पुराण, १/११५/४१
५२. "अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मावस्था न विद्यते" - वि.धर्म २/२/४
५३. देवीभागवतपुराण - २/१०/२३
५४. ललित-विस्तर (शास्त्री), अध्येषणा परिवर्त, १०/१४०
५५. वही, २५/१४०६, १४०७
५६. वही, १५/६११. २५/१४०८, १४०९, १४१०, १४११
५७. धर्मचक्रप्रवर्तन परिवर्त (ललित विस्तर), पृ. ७६७-८१५
५८. महाभारत शान्तिपर्व, ७१/२-११, कौ.अ. ६-१
५९. ल.वि. (शास्त्री), कुलशुद्धि परिवर्त, गद्य भाग १, पृ. ४९-८२
६०. का.नी.सा. - चौदहवाँ सर्ग, १४/६८, ४९, ५४
६१. मत्स्यपुराण २२०/१९, का.नी.सा. १/१८, अग्निपुराण २१५/११, २३३/१२, वि.ध. २/२/६५
६२. ल.वि. ३/कुलशुद्धि परिवर्त का गद्य भाग
६३. मत्स्यपुराण २२०/२०
६४. ललित-विस्तर २५/३९९
६५. ल.वि. (शास्त्री) ३/गद्यभाग (कुलशुद्धि), पृ. ७२
६६. ल.वि. (शास्त्री) ३/गद्यभाग
६७. मत्स्यपुराण, २१३/१५
६८. ल.वि. ३/गद्यभाग, पृ. ४९, महापरिनिब्बानसुत्त, दी. नि. भा. २, पृ. ११३
६९. वही, ३/गद्य भाग, महावस्तु, १/१९३/१६-१७, २/३२३/२-५-११३ ल.वि. १२ गद्य भाग
७०. ल.वि. ३/गद्यभाग, पृ. ६१-६५
७१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ. १५७

७२. ललित-विस्तर, ३/गद्य भाग
७३. ल.वि. - ५ गद्यभाग, पृ. १०३
७४. अग्निपुराण २२०/२-३
७५. मिलिन्दपन्हो, ४/६
७६. ल.वि. - शास्त्री, ''लिपिशालासंदर्शन परिवर्त, पृ. ५६
७७. वही, कुलशुद्धि परिवर्त, पृ. ७२
७८. ल.वि. - शास्त्री - देवकुलोपनयन परिवर्त, गद्य भाग, पृ. २३५
७९. वही, ११/गद्य भाग, पृ. २६३
८०. वही, ३/गद्य भाग, पृ. ४७-८२
८१. वही, ३/गद्य भाग, पृ. ४७-८२
८२. वही, ३/गद्यभाग, पृ. ४७-८२
८३. कौ.अ., पृ. ५/१/१
८४. ल.वि. ३/गद्य भाग, पृ. ५१, ८/गद्य भाग
८५. वही, ३/गद्यभाग, पृ. ६८
८६. महाभारत, शा.प. ११९/१६-१७
८७. का.नी.सा. - ४/१, ६८-७०, ७२, ७३, ७४

उपसंहार

कविता, भावों की उद्बोधिका होने के कारण मानव को अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। कविता हृदय के ऊपर गहरी चोट करती है, मानव हृदय को सद्य: उत्तेजित करती है और इसलिए सामान्य जनता के हृदय तक धर्म तथा दर्शन के दुरूह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्मप्रचारक अतिप्राचीन काल से कविता का सहारा लेते आये हैं और आज भी लेते हैं। ललित-विस्तर एक ऐसा ही बौद्ध धर्म-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ बौद्धधर्म की महायान शाखा से सम्बद्ध महायानसूत्र ग्रन्थों में बहुत पवित्र माना जाता है। इसमें भगवान् बुद्ध का जीवन चरित वर्णित है।

ललित-विस्तर ग्रन्थ के नामकरण से ही अभिव्यक्त होता है कि यह महायान विचारधारा से सम्बद्ध है, क्योंकि इसमें भगवान् बुद्ध के द्वारा इस धरा-धाम पर की गई जीवन की ललित-लीलाओं, क्रीड़ाओं का अतिशयता के साथ अंकन हुआ है। इस कारण ग्रन्थ का नाम "ललित-विस्तर" पड़ा। अभिनिष्क्रमण-सूत्र के अनुसार इसको "महाव्यूह" भी कहते हैं। ललित-विस्तर में भगवान् तथागत का जीवन वृत्तान्त एक लोकोत्तर जीव के रूप में वर्णित हुआ है। यह ग्रन्थ गद्यमय है, बीच-बीच में गाथा उपन्यस्त है, कथा भाग प्राय: गद्य में ही हैं। अनेक गाथाएँ बुहत सुन्दर ग्राम्यगीत हैं, जिनका समय सुत्तनिपात की गाथाओं के सदृश्य अतिप्राचीन हैं।

ललित-विस्तर बुद्ध कथा से सम्बद्ध अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ होने के साथ ही अनेक नवीन परम्पराओं का भी परिज्ञान कराता है। यह बात असंदिग्ध है कि यह ग्रन्थ प्राचीन बौद्धधर्म एवं बुद्ध जीवन के धुरावृत्त का एक सफल कोश है किन्तु यह कथन उन्हीं अंशों के विषय में कहा जा सकता है, जो पालि मूल ग्रन्थों तथा महावस्तु सदृश अन्य संस्कृत ग्रन्थों से सम्बद्ध एवं सहमत हैं। ललित-विस्तर बुद्ध-कथा के विकास का प्रारम्भिक एवं प्रमुख सूचक इस दृष्टि से अवश्य है कि इसमें धर्म के महान् संस्थापक बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ विचित्रताओं से अलंकृत रूप में अंकित हैं। साथ ही इसमें तथागत के सत्यान्वेषण तथा देवत्वोपलब्धि का भी उल्लेख है, जिसमें वे अपने जीवन के आदि से अन्त तक एक ऐसे देव के रूप में चित्रित हैं, जो अन्य समग्र देवों के ऊपर उनके अधिराज हैं। बौद्ध संस्कृत जगत् में यह धार्मिक इतिहास की दृष्टि से एक अमूल्य रचना है। इस ग्रन्थ का साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु इसे एक यथार्थ बौद्ध महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि महाकाव्य के लिए अपेक्षित गुणों का इसमें पूर्णरूपेण अनुवर्तन नहीं हो सका है, फिर भी यह एक महाकाव्य के तत्त्वों से सम्बलित अवश्य है। अत: यदि स्वत: ललित-विस्तर नहीं, तो इसमें सुरक्षित प्राचीनतम लोकगीत एवं कथाएँ ही वह स्रोत हैं, जहाँ से अश्वघोष के बुद्ध चरित सदृश महनीय काव्य

का कथानक गृहीत हुआ है।

उदात्त नायक बुद्ध (बोधिसत्त्व) का उदात्त जीवन वृतान्त ही ललित-विस्तर का वर्ण्य विषय है। उन्हीं की उपासना, उनके सद्भाव एवं पुनीत कर्तव्यों का कमनीय कीर्तन ही इसमें विद्यमान है, अथवा हम यों कहें कि बुद्ध के समस्त सुकर्म एवं जीवन के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण इसमें साकार हो उठे हैं। लोक पर अनुकम्पा करने एवं लोकलीला हेतु ही वह गर्भावक्रान्ति कर अवतरित होते हैं। समस्त जम्बूदीप के महारत्न एवं नेता गौतम ही हैं। वह एक महापुरुष हैं तथा महापुरुष के द्वात्रिंशत् लक्षणों से सम्बलित हैं। वह धर्म के साक्षात् स्वरूप धर्मराज हैं। वह सप्तरत्नों से समन्वित हैं। सूर एवं महावीर हैं। विश्व में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हैं। वह जगत्त्राता हैं। अज्ञानान्धकारापनयन हेतु वह दीपक हैं, वह लोकनाथ हैं। उनका हृदय सदैव कृपा एवं मैत्रीभाव से परिपूर्ण है। वह वैद्योत्तम परमोत्कृष्टशल्यहर्त्ता, चतुर चिकित्सक हैं। दुखार्णवों से सत्त्वों को अपने सद्धर्म रूपी नौका द्वारा उद्धार करने वाले वह परम कारूणिक हैं।

ललित-विस्तर अनेक धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक भावों से परिपूर्ण है। बुद्ध के प्रति भक्तिपूर्ण मंगलमय भावों का वर्णन, उनके गौरव का गान, उनके सर्वज्ञत्व एवं लोकरक्षक रूप का विवेचन एवं उनके प्रति दान का माहात्म्य प्रायः सर्वत्र इसमें उपलब्ध होता है। इसीलिए इसमें बोधिबाधक तत्त्वों जैसे- शरीर-सुख, सौख्य, कामादि की कटु आलोचना की गयी है तथा स्वयंभू तथागत की वन्दना का निर्देश किया गया है।

ललित-विस्तर ग्रन्थ का दार्शनिक दृष्टिकोण से भी अधिक महत्व है। इस ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन के विविध तत्त्वों, जैसे- चतुरार्य सत्य, प्रतीत्य समुत्पाद आर्याष्टांगिक मार्ग, पंचस्कन्ध, षडायतन, अनात्मवाद, क्षणभंगवाद आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। दस बल, आवेणिक धर्म, शैथलिक बाहुलिक सम्प्रदाय आदि विविध बातों का विवेचन इसमें यत्र-तत्र हुआ है। इसकी कतिपय गाथाएँ कठोपनिषद् एवं गीता के आत्म-तत्त्व विवेचन-प्रसंग का स्मरण दिलाती हैं, जहाँ सर्व धर्मों के नैरात्म्य का निर्देश हुआ है। इसमें भी उन्हीं ग्रन्थों के समान इन्द्रियों को अश्वादि के रूपक से रूपित किया गया है।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में बुद्ध का जीवन चरित नाना भाव से वर्णित हुआ है, पर सभी इस बात में एक मत हैं कि तथागत के जीवन में बारह प्रधान घटनाएँ घटीं। उन बारह प्रधान घटनाओं में महापरिनिर्वाण को छोड़कर अन्य सबका वर्णन ललित-विस्तर में सचमुच ललित ढंग से किया गया है। इस लालित्य में सर्वत्र मानवभाव दिव्यभाव में मग्न दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ अन्य घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में वर्णित, किन्तु अन्य बौद्ध धर्म ग्रन्थों में अनुपलब्ध दो वृत्तान्तों का संक्षिप्त रूप में वर्णन प्रस्तुत है। इसमें से प्रथम घटना है बोधिसत्त्व का देवालय गमन। जिस समय शाक्यों की मन्त्रणानुसार कुमार को देवालय भेजने के लिए महाराज शुद्धोदन के आदेश से कुमार को विविध अलंकरणों एवं परिधानों से अलंकृत किया जाता

है, वह सस्मित कह उठते हैं- ''मैं तो स्वतः देवाधि देव हूँ, मुझसे श्रेष्ठ देवता कैन हैं? फिर भी उन्हें देवालय में प्रवेश कराया जाता है। वह ज्यों ही वहाँ पदार्पण करते हैं, समग्र देव-मूर्तियाँ अपने स्थान से उठकर, अपने स्वरूप का प्रकाशन करती हुईं कुमार के चरणों में पड़कर उनका अभिवादन करना आरम्भ कर देती हैं। इसी प्रकार का द्वितीय दृष्टान्त है, बुद्ध का प्रथम बार विद्यालयाभिगमन।

कुमार बोधिसत्त्व, दस सहस्र बालकों से अनुगमित हो, अनेक मांगलिक कृत्यों एवं समारोह के साथ, जिसमें अमरगण भी भाग लेते हैं तथा जिसमें अष्टसहस्रदिव्य कन्याएं उनके समक्ष पुष्प विकीर्ण करती हैं, अपने विद्यालय प्रवेश का महोत्सव मनाते हैं। बोधिसत्त्व के विद्यालय में प्रवेश करते ही विद्यालय के आचार्य विश्वामित्र उनके तेज को न सह सकने के कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर अधोमुख होकर गिर पड़े। तब शुभांग नामक देव प्रकट होकर बोधिसत्त्व के सर्वज्ञत्व का परिचय देता है। बोधिसत्त्व उन सभी लिपियों को पूर्णरूपेण जानते हैं जिनके नाम तक से भी आचार्य परिचित नहीं हैं। इन दो घटनाओं के अतिरिक्त और भी कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है। ''शिल्पसंदर्शन'' एवं ''संचोदना'' परिवर्त इसके दृष्टान्त हैं, किन्तु शेष वृत्तान्त ऐसे हैं, जिनका बौद्ध धर्म ग्रन्थों में वर्णित कथानकों से किंचित भेद लक्षित होता है। बुद्ध जीवन से सम्बद्ध प्रमुख वृत्तान्तचतुर्पूर्वरूप दर्शन, महाभिनिष्क्रमण, विम्बसारोपसंक्रमण, दुष्कर चर्या, मार-धर्षण, अभिसम्बोधि एवं धर्मदेशना, ललित-विस्तर में वर्णित इन वृत्तान्तों से कुछ ही भिन्न हैं। .... किन्तु इन स्थलों पर भी यह अपने अतिरंजनापूर्ण वर्णनों के कारण अन्य बुद्ध कथा स्रोतों से विलक्षण है।

ललित-विस्तर का प्रारम्भ और अन्त स्पष्टरूप से महायानिक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ललित-विस्तर नाम के वैपुल्य-सूत्र के उपदेश के लिए बुद्ध से सहस्रों भिक्षुओं और बोधिसत्त्वों की परिषद में नाना देवताओं की अभ्यर्थना तथा मौन के द्वारा उसका बुद्ध से स्वीकार वर्णित है। अन्त में ललित-विस्तर का महात्म्य गान किया गया है। साथ ही यह उन गुणों एवं लाभों का भी उल्लेख करता है, जिन्हें इसकी प्रतिष्ठा एवं प्रचार करने वाला व्यक्ति प्राप्त करता है। इस धर्म-पर्याय का भाषण अथवा श्रवण करने वाले अतुलवीर्योपलब्धि करेंगे। जो इसका समादर करेंगे, वे अष्ट उत्कृष्ट (रूप, बल, परिवार, प्रतिभान, व नैषक्रम्य, चित्तपरिशुद्धि, समाधि एवं प्रज्ञा) धर्मों को प्राप्त करेंगे। इस धर्मपर्याय का वाचन करने वालों को अष्टासन प्रतिलम्भों (श्रेष्ठासन, गृहप्रत्यासन, चक्रवर्त्यासन, लोक पालासन, शक्रासन, वशवर्त्यासन, ब्रह्मासन एवं बोधिमंड, निहतमारप्रत्यर्थिकं सिंहासन) की प्राप्ति होगी। इसका वक्ता अष्टवाक् परिशुद्धियों (आवेदयवचनता, ग्राह्यवचनता, श्लक्ष्ण मधुर वचनता, कलविंगस्वरता, तदुक्त वचनता, ब्रह्मस्वरता, सिंहघोषाभिगर्जितस्वरता, बुद्धस्वरता) का अधिकारी होगा। जो कोई आर्ष धर्म पर्याय सूत्र को अमात्सर्य भाव से धारण कर चतुर्दिक वर्णन करेगा, वह स्मृति, मति, गति, धारणी, प्रतिभान, धर्म, बोधिचित्त एवं प्रतिपत्ति इन अष्ट महाभिधानों का भागी होगा। इसे सम्यक् प्रवर्तित करने वाला दान, शील, श्रुत,

समर्थ, विदर्शन, पुण्य, ज्ञान तथा महाकरूणा इन अष्ट सम्भारों को प्राप्त करेगा। लोक के प्रति इस धर्म पर्याय का सम्प्रकाशन कर्त्ता अष्ट महापुण्यता की उपलब्धि करेगा। इसका अव्यवहित श्रोतृवर्ग, अष्टचित्तनैर्मल्य का अधिकारी होगा। संक्षेप में यह कथन अनुचित नहीं है कि सर्वज्ञ तथागत भी यदि सद्धर्मपर्याय सूत्र का महात्म्य-विवेचन, दिन-रात सतत् कल्पपर्यन्त करे तो भी इसका अन्त सम्भव नहीं है और न तो तथागत के प्रतिभान का ही क्षय संभाव्य है। अन्ततोगत्वा इस सूत्र-सम्राट एवं सूत्र-रत्न की महिमा का ललित पदों में आख्यान करते हुए, यह बतलाया गया है कि इसमें आस्था रखने वाले व्यक्ति प्रभूत प्रतिमा तथा अक्षय यशोपलब्धि करेंगे। ललित-विस्तर में इस बात का भी उल्लेख है कि तथागत का जन्म विविध क्लेशों, व्याधियोंसे संतप्त एवं अज्ञान तमसावृत्त लोक को अपने प्रज्ञा-प्रदीप से प्रकाशित करने के लिये हुआ है और लोक-मंगल इस ग्रन्थ का उद्देश्य है-

चिरप्रसुप्तमिमं लोकं तमस्कन्धावगुण्ठितम्।
भवान् प्रज्ञाप्रदीपेन समर्थः प्रतिबोधितुम्॥
चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते।
वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधि प्रमोचकः॥

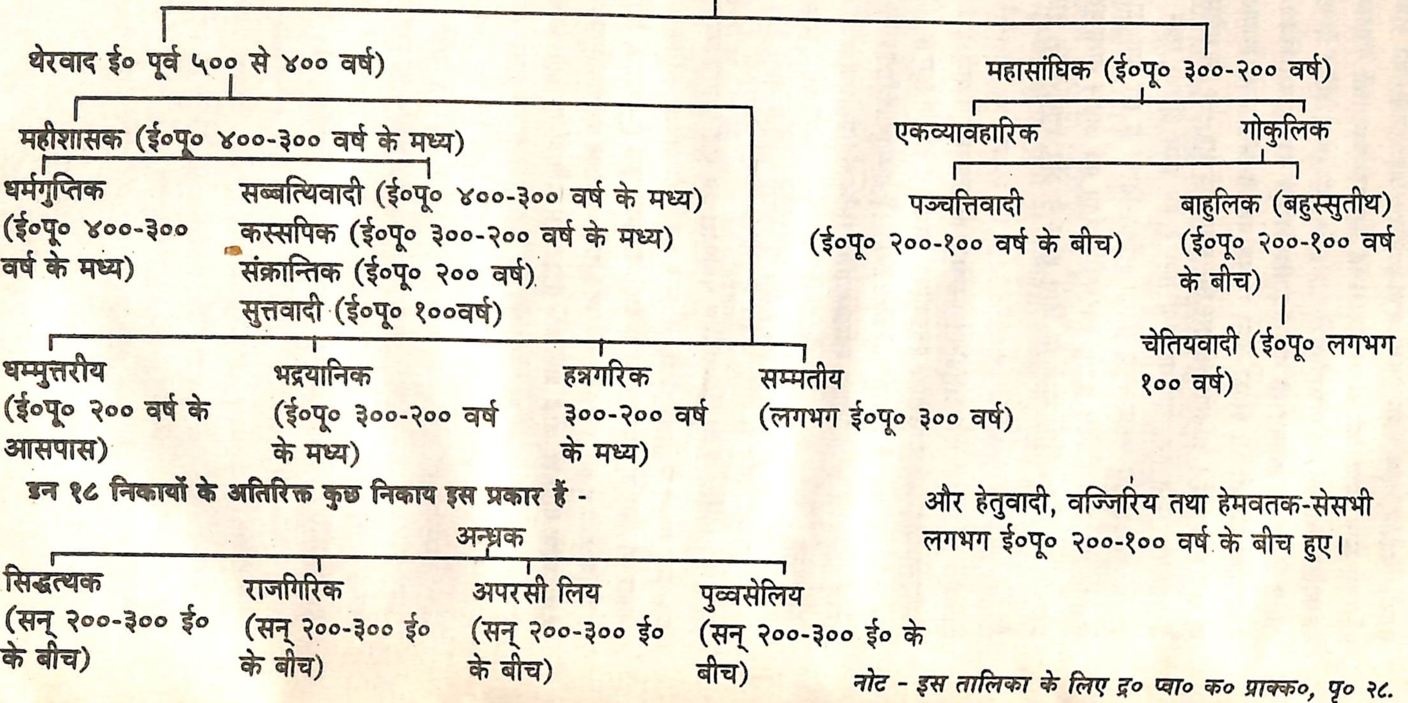
- ल. वि., २३/५-६

उपर्युक्त वर्णन से बौद्ध वाङ्मय में ललित-विस्तर के महत्व एवं योगदान पर प्रकाश पड़ता है। ललित शैली में काव्यमय धर्मोपदेश एवं बुद्ध प्रशस्ति का गान करने के कारण यह ग्रन्थ सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सफल रहा। सामान्य जनता को आकर्षित करने वाले अर्थवाद सम्बन्धी गुणों (पुण्यलाभ, विभिन्न गुणों की प्राप्ति, धनसम्पत्ति प्राप्ति आदि लाभ), का वर्णन करने के कारण यह जनसमुदाय में बड़ा ही लोकप्रिय हुआ और महायान बौद्ध धर्म को सुदृढ़ता से प्रतिष्ठापित करने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ।



परिशिष्ट - १

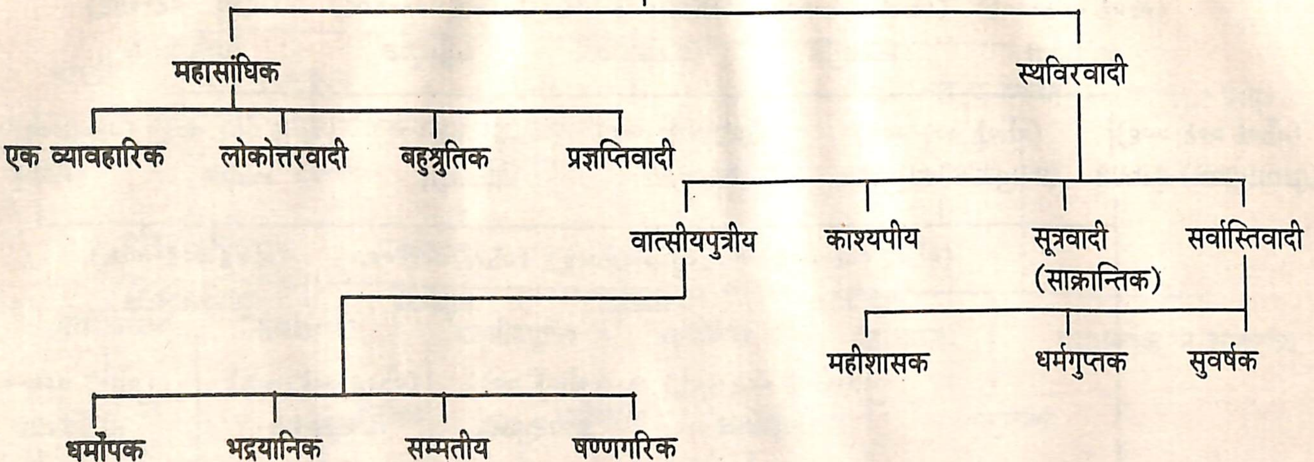
कथावस्तु की अट्ठकथा के अनुसार निकाय भेद



नोट - इस तालिका के लिए द्र० प्वा० क० प्राक्क०, पृ० २८.

परिशिष्ट - २

शारिपुत्र परिपृच्छा सूत्र के अनुसार निकाय भेद



द्र० - *बौद्ध धर्म विकास का इतिहास - डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय*
(द्वितीय संस्करण १९७६ पृ० १७७)

परिशिष्ट - ३

वसुमित्र के अनुसार निकाय भेद

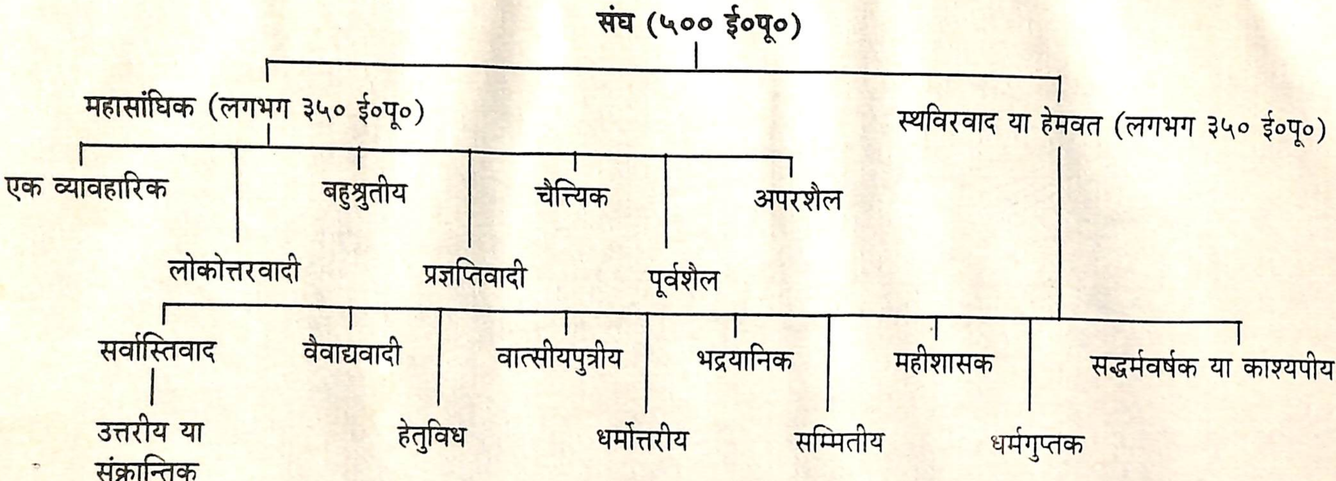
संघ (५०० ई०पू०)

- महासांघिक (४००-३०० ई०पू०)
  - एक व्यावहारिक (४००-३०० ई०पू०)
  - लोकोत्तरवादी (४००-३०० ई०पू०)
  - कक्कलिक (४००-३०० ई०पू०)
  - बहुश्रुतीय (४००-३०० ई०पू०)
  - प्रज्ञाप्तिवादी (३०० ई०पू०)
  - चैत्यक (३००-२०० ई०पू०)
  - अपरशैल (३००-२०० ई०पू०)
  - उत्तर शेल (३००-२०० ई०पू०)
- स्थरविरवाद (४००-३०० ई०पू०)
  - हेमवत (३००-२००ई०पू०)
  - धर्मगुप्त (३००-२०० ई०पू०)
  - महीशासक (३००-२०० ई०पू०)
  - काश्यपीय (३००-२०० ई०पू०)
  - संक्रान्तिक(सात्रान्तिक) (३००-१०० ई०पू०)
  - हेतवादी (सर्वास्तिवादी) (३००-२०० ई०पू०)
    - वात्सीपुत्रीय (३००-२०० ई०पू०)
    - धर्मोत्तरीय (३००-२०० ई०पू०)
    - भद्रयानिक (३००-२०० ई०पू०)
    - सम्मितीय (३००-२०० ई०पू०)
    - छन्नगरिक (३००-२०० ई०पू०)

नोट - *इस तालिका के लिए द्रष्टव्य - प्वाइंट कन्ट्रोवर्सी, पृ० ३६.*

परिशिष्ट - ४

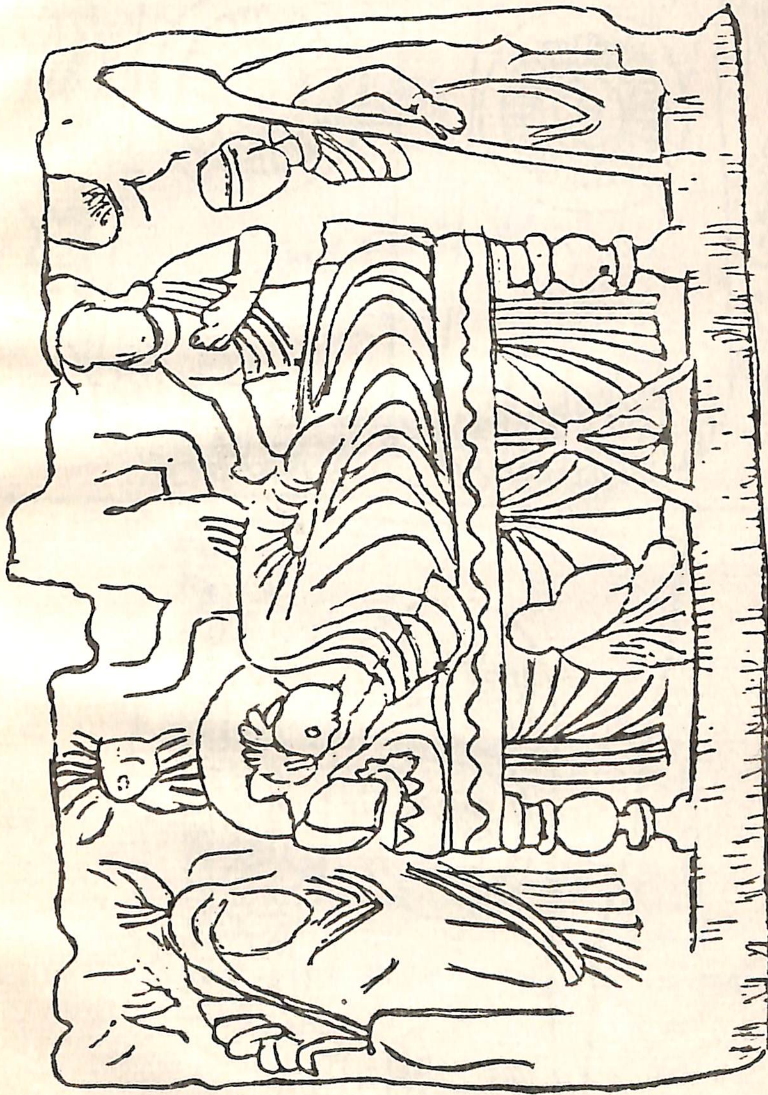
भव्य के अनुसार निकाय भेद



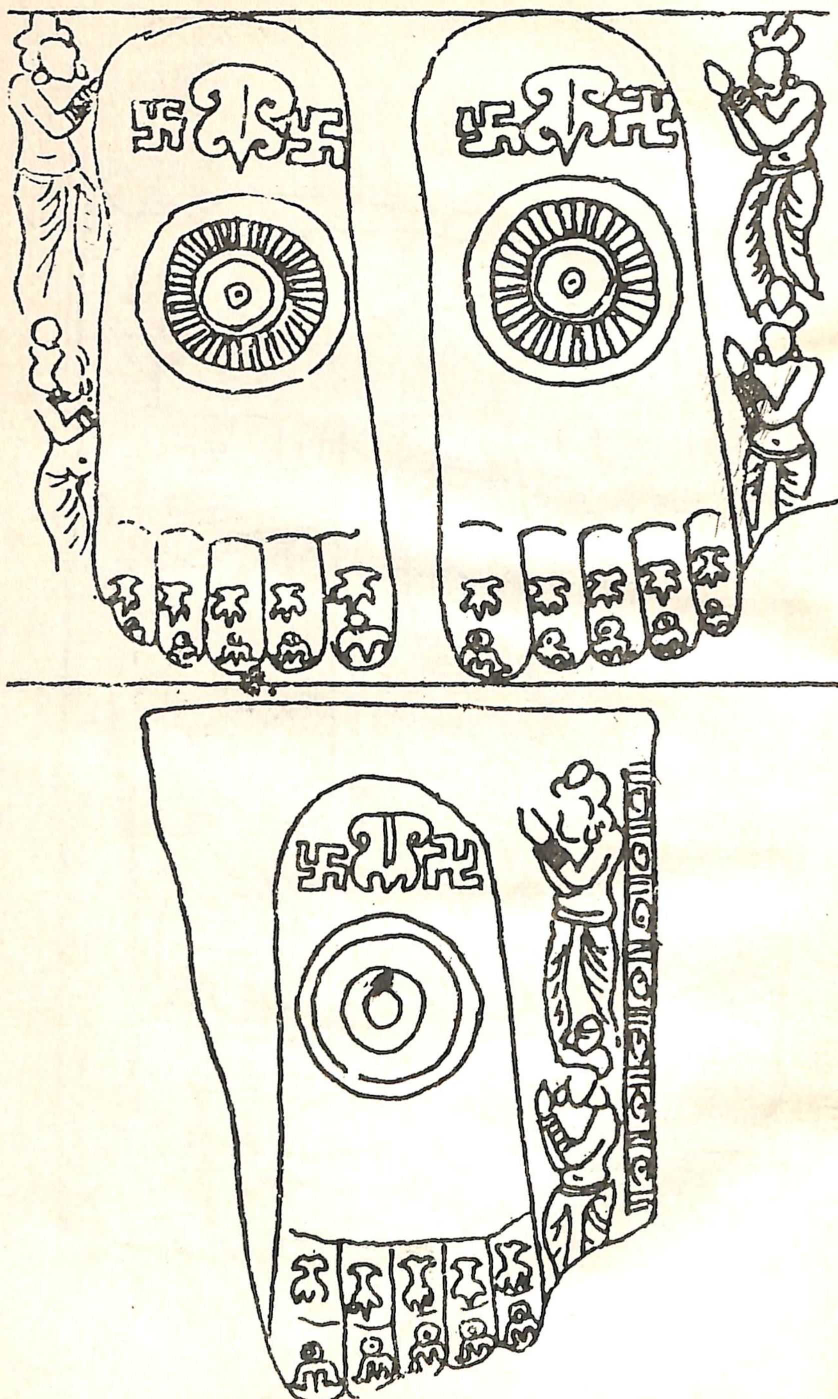
नोट - *इन सभी निकायों की उत्पत्ति ३५० ई०पू० के पश्चात् ही हुई।*
उपर्युक्त तालिका के लिए द्रष्टव्य प्वाइंट कन्ट्रोवर्सी, पृ० ३३.



6 - स्थानक
बोधिसत्त्व, महोली



7 - परिनिर्वाण, सहरी बहलोल



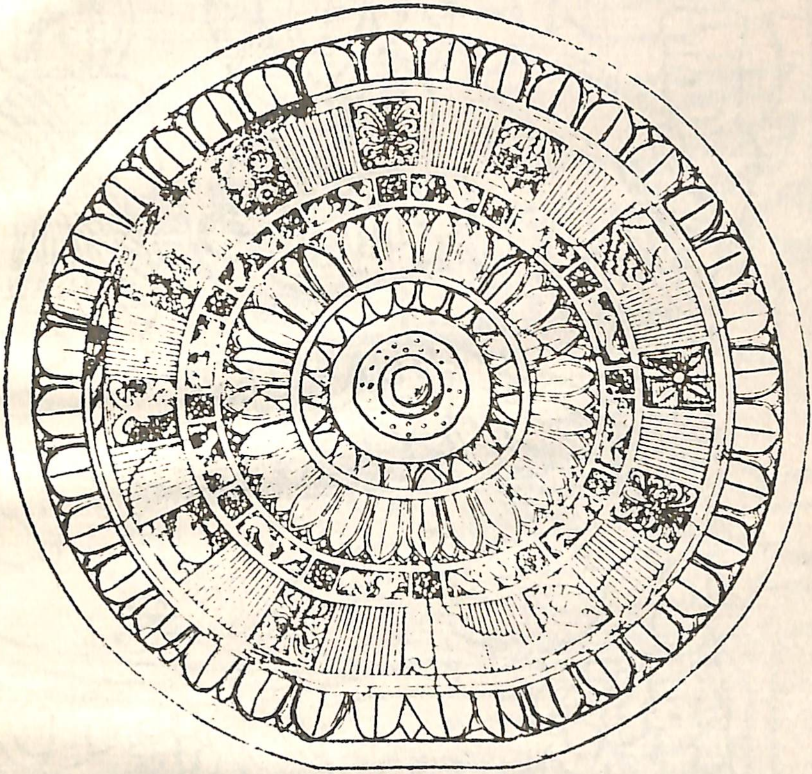
8 – बुद्धपद, अमरावती, प्रथम शती ई० पू०



9- बुद्ध, धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा, सारनाथ, गुप्तकाल



10 - बुद्ध, सहरी बहलोल



11-सारनाथ बोधिसत्व प्रतिमा का छत्र



12- ताम्र की धातु - मंजूषा, पेशावर



13 - काश्यप का धर्म-परिवर्तन, सहरी बहलोल



14-कटरा से प्राप्त बोधिसत्त्व या बुद्ध



15-बुद्ध, मथुरा, गुप्तकाल

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अग्नि पुराण	पं. श्री रामशर्मा आचार्य	बरेली, उ.प्र., प्रथम संस्करण, १९६८
अंगुत्तर निकाय	भदन्त आनन्द कौत्सल्यायन	महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९६९
अभिधर्म कोश	राहुल सांकृत्यायन	काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९८८
अर्धविनिश्चयसूत्र	भिक्षु वीर्य श्रीदत्त व्याख्याकार एन.एच. साम्ताणी	काशी प्रसाद जायसवाल, शोध संस्थान, पटना-१९७१
अर्थशास्त्र	शामा शास्त्री संस्कण	मैसूर, १९२४
अवदान शतक	जे.एस. स्पेयर संस्कण	सेन्ट पीट्सवर्ग, १९०६
अवदान शतक	डॉ. पी. एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८
अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता	डॉ. पी. एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०
अष्टादस निकाय	मसुदा कृत	एशिया मेजर-२, १९७५
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१९६९
कठोपनिषद्	डॉ. वी.के. वर्मा	साहित्यकार प्रेस, भदैनी, वाराणसी-१९७७
कथावस्तु	भिक्षु जगदीश काश्यप	नालन्दा, १९५२
कौटिल्य अर्थशास्त्र	आचार्य कौटिल्य व्याख्याकार, वाचस्पति गौरेला	चौखम्भा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, तृतीय संस्कण १९८४
गण्डव्यूह	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०
गरुण पुराण	पं. रामतेज पाण्डेय	चौखम्भा, वाराणसी, १९८६
गीता	पं. ज्वाला प्रसाद	गीता प्रेस, गोरखपुर, १९७५
दसभूमिश्वर	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६७
दिव्यावदान	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९

दीघ निकाय, भाग १,२,३	भिक्षु जगदीश काश्यप	विहार राजकीय पालि प्रकाशन मंडल, नालन्दा, १९५८
देवी भागवतपुराण	पं. रामतेज पाण्डेय	दिल्ली, १९८६
धम्म पद	वी.एम. वरुआ एवं एस. मित्रा	बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालंदा, वि.सं., १९२१
नन्जियों का नागरी संस्करण	नन्जियो	क्यों तो जापान, १९३१
बुद्ध ग्रन्थावली	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ दरभंगा, प्रथम खण्ड, १९६१, द्वितीय खण्ड-१९६४
बुद्ध चरित	सूर्य नारायण-चौधरी (हिन्दी-अनुवाद सहित)	पूर्णिया बिहार, १९५२
बुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायन	सारनाथ, वाराणसी, वि.सं. १९५२
बोधि चर्यावतार	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०
बौद्धायन गृह्यसूत्र	आर. शामशास्त्री	मैसूर, १९२०
मत्स्य पुराण	पं. तारिणीश झा	इलाहाबाद, १९८८
महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित)	रामस्वरूप शर्मा, मुद्रक एवं प्रकाशक, पं. रामचन्द्र शर्मा	सनातन धर्म यन्त्रणालय, मुरादाबाद, १९२६
महाभारत	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५७
महावग्ग	भिक्षु जगदीश काश्यप	नालन्दा, १९५६
महावस्तु	जोन्स	लन्दन, १९५०
मिलिन्द पञ्हो	भिक्षु जगदीश काश्यप	नागपुर, तृतीय संस्करण, १९८६
ललित-विस्तर	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८
ललित-विस्तर	एस. लेपमन	२-१३ अज्जू-जुवान, मिन्टो क्यू टोकियो, जापान, १९७७
लंकावतार	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६३
सद्धर्म पुण्डरीक	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०
समाधिराज	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१
सुवर्ण प्रभास	डॉ. पी.एल. वैद्य	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६७

संयुक्त निकाय भाग-३, स्कन्ध वग्ग	भिक्षु जगदीश काश्यप	बिहार पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, १९५९

अनुवाद एवं आधुनिक ग्रन्थ

संपादक	ग्रन्थ	स्थान
अग्रवाल वासुदेव शरण	भारतीय कला	वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७७
आइस वेजान एण्ड श्रीमती डेविड रायस	प्वाइन्ट आव् कन्ट्रोवर्सी	पालि टेक्ट्स सोसायटी लन्दन, १९६०
आचार्य नरेन्द्र देव	बौद्ध धर्म दर्शन	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, प्रथम संस्करण, १९५६
उपाध्याय बलदेव	बौद्ध दर्शन मीमांसा	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८
उपाध्याय भरत सिंह	पालि साहित्य का इतिहास	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, तृतीय संस्करण, १९७२
कुन्द्रा एण्ड बाबा	प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत का इतिहास	नीलम पब्लिशर्ज ४४५१ नयी सड़क, दिल्ली-६, छठाँ संस्करण १९८८
गोभिल नन्द किशोर	भारतीय दर्शन (राधा कृष्णन्)	दिल्ली, १९८६
दत्त एवं चट्टोपाध्याय	भारतीय दर्शन	पटना, १९६१
द्विवेदी डॉ. रामायण प्रसाद	बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७६
पाण्डेय गोविन्द चन्द्र	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९६३, द्वितीय संस्करण, १९७६
मिश्र उमेश	भारतीय दर्शन	लखनऊ, द्वितीय संस्करण, १९६४
मिश्र डॉ. जयशंकर	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	द्वितीय संस्करण, १९८०
शर्मा श्रीनिवास	हिन्दी आव् इण्डियन लिट्रेचर २ (एम. विन्टरनित्ज)	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८८
श्रीवास्तव एम.पी	प्राचीन भारतीय कला, संस्कृति और दर्शन	तृतीय संस्करण, १९८५

सिंह डॉ. वी.एन.	भारतीय दर्शन	स्टूडेन्ट्स फ्रेण्डस एण्ड कम्पनी, का.हिं.वि.वि. मार्ग लंका, वाराणसी, चतुर्थ सं., १९८६

उन शोध गन्थों की सूची जिनकी सहायता शोध-प्रबन्ध की पूर्णता हेतु किया गया है, परन्तु शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में नामोल्लेख नहीं किया गया है–

ग्रन्थ	सम्पादक	स्थल, सन्/सम्वत्
अमर कोश	गुरु प्रसाद शास्त्री	वाराणसी, १९५०
अशोक के अभिलेख	राजबली पाण्डेय	ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्र.सं., संम्वत् २०२२
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	ए. चिन्नास्वामी शास्त्री	चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १९८९
उदान (हिन्दी अनुवाद सहित)	भिक्षु जगदीश काश्यप	महाबोधि सभा सारनाथ, बुद्धाब्द, २४८२
चुल्ल वग्ग	भिक्षु जगदीश काश्यप	बिहार राजकीय पालि, प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, १९५६
जियोग्राफी आव अर्ली बुद्धिज्म	विमलाचरण लाहा	भारतीय पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, १९७३
दर्शन-दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन	किताब महल, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९६१
धर्मशास्त्र का इतिहास	डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे (मूल लेखक) अनु. काश्यप अर्जुन चौबे	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९८०
पालि साहित्य का इतिहास	डॉ. कोमल चन्द्र जैन	विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८७
पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एन्सिएन्ट इण्डिया	हेमचन्द्र राय चौधरी	भाग-१, एस चॉद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५
प्रबीन भारत	राजबली पाण्डेय	नन्द किशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी, संवत् २०३३
प्राचीन भारत में संघटित जीवन	डॉ. उमेश चन्द्र मजुमदार (मूल लेखक) अनु.- कृष्णदत्त बाजपेयी	सागर विश्वविद्यालय सागर, प्रथम संस्करण-१९६६
प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म	डॉ. अच्युतानन्द घिल्डियाल	विवेक घिल्डियाल बन्धु वाराणसी, १९७६
बुद्ध कालीन समाज और धर्म	डॉ. मदन मोहन सिंह	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भवन पटना, प्रथम संस्करण, १९३३

बुद्धिस्ट इण्डिया	टी. डब्लू रीज डेविड्स	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली पुनर्मुद्रित-१९८१
बुद्धिस्ट रेकार्ड आबद वेस्टर्न वर्ल्ड	सेमुअल बिल	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली पुनमुर्द्रण-१९८१
बुद्धिस्ट लिजेन्ड्स	ई. डब्लू वर्लिनगेम	क्रैम्ब्रिज मेसाच्यूट्स, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस-१९२१
बौद्ध दर्शन	राहुल सांकृत्यायन	किताब महल इलाहाबाद, सप्तम संस्करण-१९८९
बौद्धायन गृह्य सूत्र	आर. शर्मा शास्त्री	ओरिएण्टल लाइब्रेरी, पब्लिकेशन्स, मैसूर-१९२०
मज्झिम निकाय भाग-१,२,३	प्रधा. संशोधक-भिक्षु जगदीश काश्यप	बिहार राजकीय पाली प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, १९५८
मनुस्मृति	सम्पा. क्षेमराज, कृष्णा दास	श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई संवत्-१९८२
महायान सूत्रालंकार	सम्पा. द्वारिका दास शास्त्री	बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८५
महावंश (हिन्दी अनुवाद)	आनन्द कौत्सत्यायन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४२
महावस्तु अवदान	संपा. शीतांशु शेखर वागचि	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९७०
मिलिन्द प्रश्न	अनु. भिक्षु जगदीश काश्यप	भिक्षु गा.-प्रज्ञानन्द प्रधान मन्त्री भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, लंकारामय, श्रावस्ती, बलरामपुर, गोण्डा-१९७२
संयुक्त निकाय भाग-१,२,३,४	प्रधान संशोधक-भिक्षु जगदीश काश्यप	बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा-१९५९
सुत्त निपात	सम्पा. एवं अनु. डॉ. भिक्षु धर्म रक्षित	मोती लाल बनारसी दास वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८३
हिन्दू सिविलाइजेशन	डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी	भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५७.
श्रीमद् भागवत् गीता	पं. ज्वाला प्रसाद	गीता प्रेस गोरखपुर, चौबिसवाँ संस्करण-१९८२
हिस्ट्री आव् इण्डियन लिट्रेचर, एम. विन्टर नित्ज	(मूल लेखक) अनु. श्रीमती एस. के. तकर एवं कु. एच. कोहन्	कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३३